

नया पाठ्यक्रम

+

नई चुनौती

+

नया उपाय

विकल्प सिर्फ उत्कर्ष

राज्य सेवा (मुख्य) परीक्षा

द्वितीय प्रश्न-पत्र (खण्ड-ब)

समाजशास्त्र

धर्म, वर्ण, ऋण, यज्ञ, संस्कार अनुष्ठान
विभिन्न संदर्भ, जाति व्यवस्था, आश्रम,
समाज और विवाह पर धर्म और संप्रदायों
का प्रभाव।



धर्म का अर्थ -

- 'धर्म' शब्द को अंग्रेजी भाषा में Religion कहते हैं, जो लैटिन भाषा के Reli शब्द से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'टू बाइन्ड बैक' अर्थात् "सम्बन्ध स्थापित करना"। किंतु हमारे समाज में देश, काल, परिस्थिति और सामाजिक परिवेश के अनुसार जो कर्तव्य है, उसी को हम व्यक्ति का धर्म कहते हैं।
- धर्म के अर्थ को "रिलिजन" शब्द के अनुवाद के रूप में नहीं समझा जा सकता। धर्म एक अत्यन्त व्यापक अवधारणा है। धर्म उस मौलिक शक्ति के रूप में जाना जा सकता है जो भौतिक और आध्यात्मिक अवस्था का आधार रूप है जो उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिये आवश्यक है।
- **गिलिन और गिलिन**, ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है, "एक सामाजिक समूह में व्याप्त उनके संवेगात्मक विश्वासों को जो किसी अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित हैं और साथ ही ऐसे विश्वासों से सम्बन्धित प्रकट व्यवहारों, भौतिक वस्तुओं एवं प्रतीकों को धर्म के समाजशास्त्रीय क्षेत्र में सम्मिलित माना जा सकता है।"
- **फ्रेजर के अनुसार**, "धर्म मनुष्य से उच्चतर शक्तियों में विश्वास और उन्हें शांत या प्रसन्न करने की कोशिश है।"
- **दुर्खीम के अनुसार**, "धर्म पवित्र चीजों से जुड़े हुए विश्वासों और कर्मकांडों की एक संगठित व्यवस्था है अर्थात् ऐसी चीजें जो अलग हैं और जिन्हें करने की मनाही है, विश्वास और कर्मकांड एक अखंड नैतिक समुदाय में अपने सभी मानने वालों को संगठित करते हैं।"
- **गिस्बर्ट के अनुसार**, "धर्म दोहरा सम्बन्ध स्थापित करता है पहला मनुष्य और ईश्वर के बीच दूसरा - ईश्वर की संतान होने के कारण मनुष्य और मनुष्य के बीच"।
- 'रिलीजन' शब्द के अन्तर्गत अलौकिक विश्वास एवं अधिप्राकृतिक शक्तियाँ आती हैं, परन्तु हिन्दू धर्म का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य के कर्तव्य-बोध से है। हिन्दू धर्म एक ज्ञान है जो अलग-अलग परिस्थितियों में व्यक्तियों के विभिन्न कर्तव्यों को बतलाता है, उन्हें कर्तव्य पथ पर चलते रहने की प्रेरणा प्रदान करता है।
- **व्यास का कथन है कि** "आरणात् धर्म इत्याहु" अर्थात् यह कहा जाता है कि धर्म वही है जिसे धारण किया जाता है। समाज में व्यक्ति जीवन के प्रति जो धारणा बनाता है या धारणा करता है वही धर्म है। धर्म संस्कृत के "धृ" धातु से बना है जिसका अर्थ है जो धारण किया जाये। जब क्या धारण किया जाये स्पष्ट हो जाये तो वह धर्म बन जाता है। धर्म एक प्रकार से कर्तव्य के द्वारा कुछ समाजोपयोगी तथा आत्मोपयोगी बातों या गुणों को धारण करना कहा जा सकता है।
- **जेम्स ने कहा है** - "धार्मिक जीवन में आत्म समर्पण और त्याग को प्रोत्साहित किया जाता है और अनावश्यक बातों को इसलिये त्यागा जाता है, जिससे सुख की वृद्धि हो सके। इस प्रकार उन बातों को सरल और सुविधा जनक बनाता है, जो जीवन की प्रत्येक दशा में आवश्यक है।"



◆ धर्म की प्रमुख विशेषताएँ

शक्ति में विश्वास-

धर्म की पहली विशेषता यह है कि यह शक्ति में विश्वास पर आधारित है। धर्म शक्ति पर आधारित है वह मनुष्य निर्मित न होकर प्राकृतिक होता है।

अलौकिक शक्ति में विश्वास -

धर्म का संबंध अनेक ऐसे विश्वासों से है जो किसी अलौकिक शक्ति से संबंधित होते हैं। इस अलौकिक शक्ति को कुछ समूह साकार रूप में देखते हैं, जबकि कुछ समूहों में इस शक्ति का रूप निराकार माना जाता है। व्यक्ति यह विश्वास करते हैं कि यह अलौकिक शक्ति ही उन्हें जीवन में विभिन्न प्रकार के सुख-दुख, लाभ-हानि अथवा सफलताएँ और असफलताएँ देती है।

एक सैद्धान्तिक व्यवस्था -

सैद्धान्तिक व्यवस्था भी धर्म का अनिवार्य तत्व है इसका कारण यह है कि प्रत्येक धर्म की एक सैद्धान्तिक व्यवस्था होती है। इस सैद्धान्तिक व्यवस्था की सहायता से धर्म को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया जाता है।

धार्मिक क्रियाओं व कर्मकाण्डों का समावेश -

प्रत्येक धर्म में पूजा-आराधना की विभिन्न पद्धतियों, पवित्र आचरणों और तरह-तरह के कर्मकाण्डों का समावेश होता है। व्यक्तियों का यह विश्वास होता है कि इन क्रियाओं और कर्मकाण्डों के द्वारा ही अलौकिक शक्ति को प्रसन्न करके इच्छित फल प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर की आराधना, आत्म-संयम, तीर्थ-यात्राएँ, पवित्र कार्य, त्यागमय जीवन तथा संस्कारों की पूर्ति धार्मिक क्रियाओं और कर्मकाण्डों के ही विभिन्न रूप हैं।

प्रतीक व पौराणिक गाथाएँ -

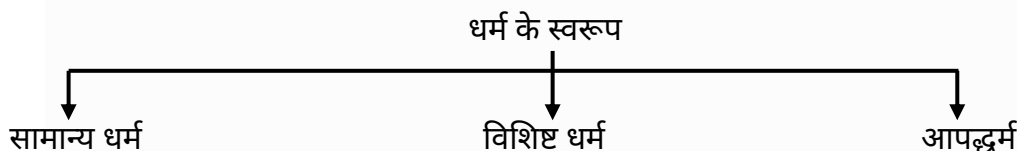
सभी धर्मों में धार्मिक विश्वासों को कुछ प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। उदाहरण के लिए, हिन्दू धर्म में मूर्ति अलौकिक शक्ति का प्रतीक है, जबकि ईसाई धर्म में 'क्रास' ईसा मसीह का प्रतीक है। रामायण, बाइबिल तथा कुरान आदि ईश्वरीय ज्ञान के प्रतीक हैं। रेशमी वस्त्र पवित्रता के सूचक हैं, जबकि फूल और धूपबत्ती आध्यात्मिक सुगन्ध के प्रतीक हैं। पौराणिक गाथाएँ अनेक कहानियों के रूप में मनुष्य और अलौकिक शक्ति के संबंध को स्पष्ट करती हैं।

उद्देगपूर्ण अभिव्यक्ति -

धर्म से संबंधित विश्वासों को लोग अनेक उद्देगपूर्ण व्यवहारों के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। भाव-विवल होकर प्रार्थना और नृत्य करना, शारीरिक कष्ट के साथ अलौकिक शक्ति में अपनी श्रद्धा दिखाना, किसी धार्मिक त्रुटि के लिए बड़े-बड़े प्रायश्चित्त करना तथा अलौकिक शक्ति के प्रति भय की भावना को विकसित करना उद्देगपूर्ण अभिव्यक्ति के ही उदाहरण हैं। ऐसे व्यवहारों का बुद्धि और तर्क से कोई संबंध नहीं होता।

◆ धर्म के विविध स्वरूप

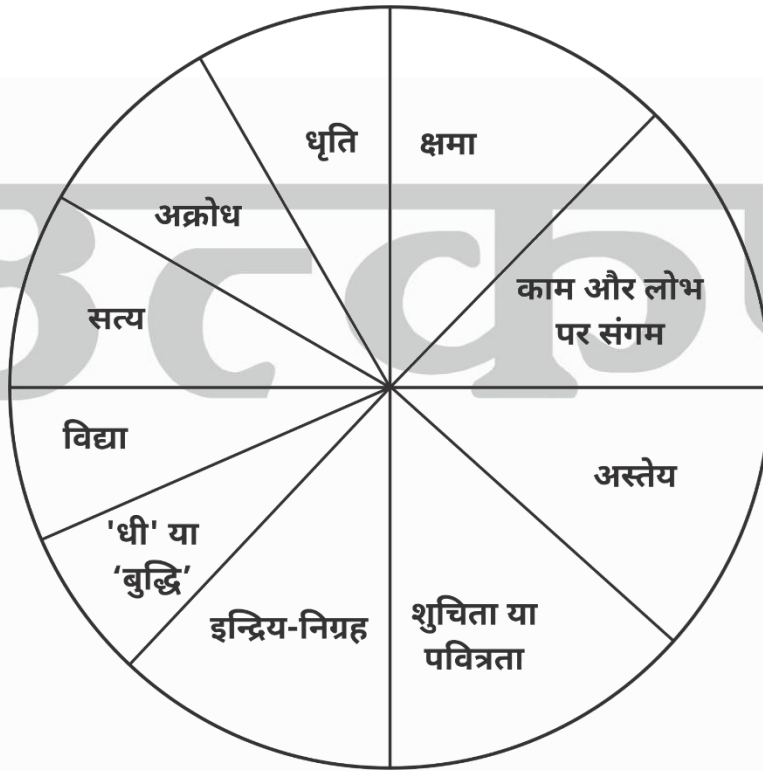
- हिन्दू धर्म व्यक्ति के कर्तव्यों को अत्यधिक महत्त्व देता है यह सर्वविदित है कि सभी व्यक्ति सदैव समान परिस्थितियों में नहीं रहते। एक ही व्यक्ति की परिस्थितियों में परिवर्तन होता रहता है। हिन्दू धर्म में प्रत्येक अपने धार्मिक विश्वास के अनुरूप आराधना, विधि-संस्कार आदि सम्पन्न करने के लिए स्वतन्त्र होता है। धर्म की यह व्यावहारिक प्रकृति इसके मुख्य स्वरूपों में देखने को मिलती है।

**सामान्य धर्म-**

- सामान्य धर्म नैतिक नियमों से सम्बद्ध है जिसे 'मानव-धर्म' भी कहा जा सकता है। सामान्य धर्म का अर्थ धर्म के उस रूप से है जिसका पालन करना सभी के लिए आवश्यक है। व्यक्ति निम्न वर्ण का हो अथवा उच्च वर्ण का, आयु में छोटा हो अथवा बड़ा, धनी हो अथवा निर्धन, स्त्री हो अथवा पुरुष, राजा हो अथवा प्रजा, सामान्य धर्म का पालन करना सभी का कर्तव्य है। यह धर्म किसी एक परिवार, समूह अथवा देश का ही नहीं होता बल्कि यह सम्पूर्ण मानव जाति का धर्म है।
- सामान्य धर्म का आशय है कि सभी धर्म समान लक्ष्य रखते हैं, इसका उद्देश्य मानव में सद्गुणों का विकास करना तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति करना है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'। धर्म के ये लक्षण सभी संस्कृतियों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं, इसलिए भी इस धर्म को 'सामान्य धर्म' कहा जाता है। मनुस्मृति में सामान्य धर्म के 10 लक्षण बताते हुए कहा गया है :

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥



- 1. धृति** - धृति का अर्थ है अपनी जीभ अथवा जननेन्द्रियों पर संयम रखना। जो व्यक्ति धृति या धैर्य गुण को विकसित कर लेता है, वह धीर कहलाता है। धीर व्यक्ति की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "मन का विकार होने पर भी जिसका मन अथवा चित्त विकृत नहीं होता, वह धीर है। यह धर्म का सामान्य लक्षण है।
- 2. क्षमा** - क्षमा से आशय है कि शक्तिशाली होते हुए भी क्षमाशील होना, अर्थात् दूसरों को क्षमा करना व उदारता का व्यवहार करना। अगर व्यक्ति अपनी कमजोरी या मजबूरी के कारण अन्याय सहन करता है तो वह क्षमा या उदारता नहीं कहलाती है। यह नियम साधारण त्रुटियों पर लागू होता है। गम्भीर अपराधों के लिए तो व्यक्ति को दण्ड देना ही चाहिए।
- 3. काम और लोभ पर संयम** - मनुस्मृति में कहा गया है इन्द्रियों के विशेष संग से मनुष्य का जीवन दोषपूर्ण हो जाता है, जबकि इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखने से वही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। केवल काम और लोभ को ऊपर से दबाकर मन ही मन उसका स्मरण करने को गीता में 'मिथ्याचार' कहा गया है। इस प्रकार शारीरिक वासनाओं पर संयम रखकर अपने जीवन को शुद्ध और नियमित बनाना मानव धर्म है।
- 4. अस्तेय** - अस्तेय का अर्थ 'चोरी नहीं करना' है। नारद-स्मृति में लिखा है कि कोई व्यक्ति पागल या निद्रा में हो और उसकी कोई वस्तु दूसरा व्यक्ति छल-कपट से ले लेता है तो यह चोरी है। महर्षि पतंजलि की मान्यता है कि जो व्यक्ति अस्तेय धर्म का पालन करता है उसके पास सम्पूर्ण रिद्धि-सिद्धि आ जाती है।
- 5. शुचिता अथवा पवित्रता** - पवित्रता का तात्पर्य केवल स्नान कर लेने अथवा वस्त्रों को स्वच्छ रखने से नहीं है। पवित्रता का वास्तविक अर्थ मन, जीवात्मा तथा बुद्धि को पवित्र रखना है। वास्तव में सत्य बोलने से मन की शुद्धि होती है, तप के द्वारा जीवात्मा पवित्र बनती है और ज्ञान के द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। मनुस्मृति में उल्लेख है कि "इन सभी शुद्धियों में न्याय से प्राप्त किये गये धन की शुद्धि सर्वश्रेष्ठ है।" इस प्रकार जो व्यक्ति न्याय और श्रम से धन प्राप्त करके उसका उपभोग करता है उसका शरीर, मन, जीवात्मा और बुद्धि अपने आप शुद्ध हो जाती है।
- 6. इन्द्रिय-निग्रह** - इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना ही इन्द्रिय-निग्रह कहलाता है। गीता में लिखा है, "इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रहने से विषयों में आसक्ति बढ़ती है, विषय-कामनाओं की पूर्ति नहीं होने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मूढ़ता आती है, मूढ़ता उत्पन्न होते ही स्मृति-विभ्रम पैदा हो जाता है, स्मृति का नाश होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का ही सर्वनाश हो जाता है।" महात्मा गाँधी ने भी 'सत्य के प्रयोग' अथवा 'आत्मकथा' में ऐसा ही लिखा है। मनुस्मृति में भी इन्द्रिय-निग्रह को धर्म की एक महत्वपूर्ण विशेषता बताया गया है।

7. 'धी' या 'बुद्धि' - धर्म का सातवां प्रमुख लक्षण बुद्धि का समुचित विकास है क्योंकि इसके बिना किसी भी कर्तव्य की पूर्ति नहीं की जा सकती। बुद्धि के विकास का तात्पर्य केवल वेदों अथवा धर्मशास्त्रों का अध्ययन कर लेना ही नहीं बल्कि इसका तात्पर्य प्रत्येक दशा में उचित और अनुचित को समझ लेने की शक्ति प्राप्त करना है। व्यक्ति जैसे-जैसे सभी प्राणियों में अपने ही समान आत्मा होने का अनुभव करता जाता है। उसकी बुद्धि स्वयं परिपक्व होती जाती है (आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः)।
8. विद्या - विद्या से विवेक जागृत होता है। विद्या वह है जो व्यक्ति को काम, क्रोध, लोभ, मोह और मन की कामवासनाओं से मुक्ति दिलाती है। जिस विद्या के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे चारों पुरुषार्थों के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वही वास्तविक विद्या है।
9. सत्य - ऋग्वेद में कामना की गयी है कि 'सत्यम् वद धर्मम् चर ।' वास्तव में सत्य ही मनुष्य का परम धर्म है। सत्य का अर्थ केवल सच बोलना ही नहीं, बल्कि जो सभी प्राणियों के लिए कल्याणकारी है, वही सत्य है। महाभारत में सत्य के तेरह रूप बताये गये हैं। 1. निष्पक्षता, 2. इन्द्रियों पर नियन्त्रण, 3. क्षमाशीलता, 4. सहिष्णुता, 5. लज्जा, 6. कष्ट स्वीकारना, 7. दान, 8. ध्यान, 9. उचित-अनुचित कार्यों का ज्ञान, 10. धृति, 11. दया, 12. क्षमा, और 13. अहिंसा। एक प्रकार से सत्य सभी धर्मों का आधार है।
10. अक्रोध - अक्रोध अर्थात् क्रोध नहीं करना; यह इच्छाओं के अपूर्ण रहने पर होता है। क्रोध सभी अवगुणों का आधार है और क्रोध की स्थिति में सभी इन्द्रियां मनुष्य पर अपने आप ही अधिकार जमा लेती हैं। इस प्रकार अपने कर्तव्य की पूर्ति वहीं व्यक्ति कर सकता है जो क्रोध से दूर रहे और शान्त मन से प्रत्येक स्थिति को समझने का प्रयत्न करे।

विशिष्ट धर्म-

- हिन्दू संस्कृति की यह विशेषता है कि जहां इसमें एक और एक सर्वव्यापी मानव-धर्म को विशेष महत्व दिया गया है वहीं इस तथ्य को भी ध्यान में रखा गया है कि समय, परिस्थिति और स्थान की भिन्नता के अनुसार सभी व्यक्तियों के कर्तव्य समान नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों के गुण, स्वभाव, व्यवहार, आयु और सामाजिक पद में भी भिन्नता होती है। ऐसी स्थिति में सभी व्यक्तियों का धर्म अथवा कर्तव्य एक-दूसरे से कुछ भिन्न हो जाना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के धर्म अपने-अपने वर्ण के अनुसार हैं; ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी के धर्म एक-दूसरे से पृथक् हैं। स्त्री का धर्म पुरुष से भिन्न है। गुरु और शिष्य का धर्म एक-दूसरे से भिन्न होता है: सैनिक का धर्म एक तथा राजा का धर्म दूसरा है; पिता, पुत्र अथवा मित्र के रूप में भी व्यक्ति का धर्म अथवा कर्तव्य भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार समाज में दूसरे व्यक्तियों को ही विशिष्ट धर्म कहा जाता है।
 - विशिष्ट धर्म को 'स्वधर्म' भी कहा जाता है। यह विशेष व्यक्ति का अपना धर्म होता है, विशिष्ट धर्म के महत्त्व के सम्बन्ध में गीता में लिखा है, "स्वकमणा तमभ्यर्चय सिद्धिं विदन्ति मानवः ।" अपने धर्म का पालन करने से ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी होता है। विशिष्ट धर्म की प्रकृति को इसके प्रमुख स्वरूपों के आधार पर सरलतापूर्वक समझा जा सकता है :
- (1) वर्ण धर्म - सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से हिन्दुओं को चार वर्णों में विभाजित किया गया है-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। धार्मिक रूप से इन चारों वर्णों के पृथक् पृथक् धर्म (कर्तव्य) निर्धारित किये गये जिससे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की तुलना में अपने दायित्वों का उचित रूप से निर्वाह कर सके।
 - (2) आश्रम धर्म - हिन्दू समाज में व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया है - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम । प्रत्येक आश्रम की अवधि आश्रम धर्म के अनुसार 25-25 वर्ष की है। प्रत्येक आश्रम में व्यक्ति के विशेष धर्म इस तरह निर्धारित किये गये हैं जिससे वह अपना शारीरिक, नैतिक और आत्मिक विकास करके मोक्ष के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सके।
 - (3) कुल धर्म - भारतीय संस्कृति में कुल अथवा परिवार को सामाजिक व्यवस्था का केन्द्रीय तत्व माना गया है। इस आधार पर कुल धर्म का तात्पर्य परिवार के सभी सदस्यों द्वारा दूसरे सदस्यों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना और परिवार की परम्पराओं में निष्ठा बनाये रखना है। इस प्रकार कुल धर्म के अन्तर्गत हम प्रमुख रूप से (क) पति-धर्म, (ख) पत्नी-धर्म, (ग) पुत्र धर्म, (घ) भ्रातृ धर्म आदि को सम्मिलित करते हैं। इन विशिष्ट धर्मों के अतिरिक्त परिवार में सभी सदस्यों द्वारा कुल परम्परा की रक्षा करना, संस्कारों की पूर्ति करना तथा कुल की प्रतिष्ठा को बनाये रखना उनका प्रमुख दायित्व है। इस प्रकार कुल धर्म का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन को संगठित बनाये रखने से है।

- (4) **राज धर्म** - महाभारत में राजा के सम्बन्ध में निश्चित कर्तव्यों को स्पष्ट किया गया है जिनका पालन करना शासक के लिए आवश्यक है। महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है कि वह राजा मोक्ष का अधिकारी है जो अपने देश और धर्म की रक्षा करता हुआ वीरगति को प्राप्त होता है। राजा के कर्तव्य - सैनिकों का सम्मान करना, आंतरिक एवं बाह्य आक्रमणों से प्रजा की रक्षा करना, राजोचित व्यवहार करना, दृढ़-प्रतिज्ञ होना आदि हैं। राज धर्म में एक राजा के सभी कर्तव्य आ जाते हैं।
- (5) **युग धर्म** - यह काल धर्म भी कहलाता है। मनुस्मृति, पाराशर स्मृति और पद्म पुराण में युग धर्म पर प्रकाश डाला गया है। युग के परिवर्तन के साथ साथ समाज में परिवर्तन होता है तथा उसकी आवश्यकताओं में परिवर्तन आता है। इसी के साथ-साथ कर्तव्यों में परिवर्तन आता है जिनका उल्लेख ही युग धर्म है। सतयुग में तप; त्रेता युग में ज्ञान; द्वापर युग में यज्ञ और कलियुग में दान ही युग धर्म है। हिन्दू धर्मशास्त्रियों ने युग की मांग को ध्यान में रखकर जिन कर्तव्यों का निर्धारण किया है, वह सब युग धर्म कहलाता है।
- (6) **मित्र धर्म** - हिन्दू धर्म में मित्रता के बन्धन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है इसलिए यहां तक विधान है कि यदि व्यक्ति अपने बड़े भाई से भी मित्रता का भाव रखता है तब उस पर भ्रातृ धर्म की अपेक्षा मित्र धर्म पहले लागू होगा। मित्र धर्म दोनों पक्षों को समान अधिकार देता है जिसमें व्यक्ति की आयु, सम्पत्ति और सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। एक मित्र का दूसरे मित्र के प्रति कर्तव्य है कि वह अपने मन, वचन और शरीर से उसकी रक्षा करे उसके दुःख में दुःख और सुख में सुख का अनुभव करे मित्र के लिए सभी तरह का त्याग करने को तैयार रहे तथा मित्र से कुछ भी छिपाने का प्रयत्न न करे।
- (7) **गुरु धर्म** - धर्म के अन्तर्गत गुरु का सर्वप्रमुख धर्म अहिंसा और त्याग के द्वारा ज्ञान का प्रसार करना तथा सभी अधिकारों से सम्पन्न होने पर भी अधिकारों का त्याग करना है। इसके अतिरिक्त अपने शिष्यों का हित सोचना, शिष्य से पराजय मिलने पर भी गर्व का अनुभव करना तथा इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना भी गुरु धर्म के आधारभूत तत्व हैं। गुरु के इसी धर्म को व्यावहारिक रूप देने के लिए आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत यह पद उन्हीं व्यक्तियों को दिया जाता था जो वानप्रस्थ आश्रम में रहकर त्याग का जीवन व्यतीत कर रहे हों।

आपद्धर्म

- हिन्दू धर्म में यद्यपि सभी व्यक्तियों के लिए सामान्य और विशिष्ट दोनों तरह के धर्मों का निर्धारण किया गया है, लेकिन साथ ही हिन्दू शास्त्रकार इस बारे में एकमत हैं कि आपत्तिकाल में सामान्य और विशेष धर्म में कुछ परिवर्तन कर लेने पर भी व्यक्ति को इसका कोई दोष नहीं लगता। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में रोग, शोक, विपत्ति और धर्म-संकट की परिस्थितियां अक्सर उत्पन्न होती रहती हैं। इन परिस्थितियों में व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने सामान्य अथवा विशेष धर्म के पालन में इस तरह संशोधन कर ले जिससे अधिक महत्वपूर्ण धर्म की रक्षा की जा सके।
- आपद्धर्म का तात्पर्य दो बुराइयों में से एक को इस प्रकार से चुनना है जिससे धर्म के अधिक महत्वपूर्ण पक्ष की रक्षा की जा सके। इसके बाद भी यह स्पष्ट किया गया कि आपत्तिकाल में धर्म की रक्षा के लिए झूठ बोल देने तक की अनुमति प्रदान की गयी है। आपद्धर्म की प्रकृति को निम्न घटनाओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है- उपनिषद् में एक ऋषि की घटना का वर्णन है कि वह भूख के कारण मरणासन्न था। उसने शरीर की रक्षा के लिए शूद्र से जूठे उड़द तो लेकर खा लिए लेकिन शूद्र के हाथ का छुआ पानी नहीं पिया क्योंकि पानी तो ऋषि को अन्यत्र भी उपलब्ध हो सकता था। ऋषि ने भूख शान्त करने तथा जीवित रहने के लिए धर्म का उतना ही उल्लंघन किया जितना आपत्ति के निवारण के लिए उचित था।
- एक अन्य उदाहरण- एक गाय बधिकों से रस्सा तोड़कर किसी प्रकार भागी और एक गुफा में घुस गई। गुफा के बाहर एक मुनि ध्यान-मग्न बैठे हुए थे। पीछा करते हुए बधिकों ने जब मुनि से गाय के बारे में पूछा तो मुनि मौन रहे और बधिकों ने गुफा में जाकर गाय को पकड़कर मार डाला। इस समय मुनि आपद्धर्म के अनुसार झूठ बोलकर गाय की रक्षा जैसे अधिक महत्वपूर्ण धर्म का पालन कर सकते थे, लेकिन ऐसा न करने के कारण उनकी सभी सिद्धियां नष्ट हो गयीं। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि आपद्धर्म का तात्पर्य दो धर्मों के बीच टकराव हो जाने पर अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण धर्म की रक्षा करने के लिए दूसरे धर्म के नियमों को कुछ समय के लिए त्याग देना है। इस परिस्थिति को शास्त्रों में 'धर्म संकट' कहा गया है। वास्तविकता यह है आपद्धर्म हिन्दू धर्म उदारता और व्यावहारिकता को स्पष्ट करता है।

♦ सामान्य एवं विशिष्ट धर्म में अन्तर

अपनी प्रकृति और उद्देश्यों के आधार पर इन दोनों धर्मों के बीच पाये जाने वाले कुछ प्रमुख अन्तरों का उल्लेख निम्नांकित रूप से किया जा सकता है :

आधार	सामान्य धर्म	विशिष्ट धर्म
उद्देश्य	उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति तथा पारलौकिक है। निःश्रेयस की साधना करना है।	उद्देश्य लौकिक जीवन से सम्बद्ध है। व्यक्ति को सामाजिक अनुकूलन के अवसर प्रदान करना तथा अभ्युदय की क्षमता का विकास करना है।
क्षेत्र	क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है तथा इसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।	इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत एक छोटे समूह के लिए ग्रहणीय होने के कारण सीमित होता है।
महत्त्व	तुलनात्मक रूप से यह धर्म कम महत्त्वपूर्ण है। दोनों के संघर्ष की स्थिति में विशिष्ट धर्म का पालन किया जाता है।	यह सामान्य धर्म की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। संघर्ष की अवस्था में विशिष्ट धर्म को प्राथमिकता दी जाती है।
स्थिरता	इसके नियम पूर्णतया स्थिर होते हैं। किसी प्रकार का परिवर्तन करना सम्भव नहीं है।	इसमें देश, काल तथा स्थान के अनुसार परिवर्तन करने की कुछ छूट सम्भव है।
पूजा	यह देवी-देवताओं की पूजा और ईश्वरीय विश्वास से ही सम्बन्धित है।	यह कर्म-प्रधान धर्म है जिसकी विस्तृत विवेचना गीता में वर्णित है।
प्रकृति	यह समष्टिवादी धर्म है इसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का कल्याण करना है। इसकी प्रकृति सामाजिक है।	यह प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों का निरूपण अन्य व्यक्तियों के साथ होने वाले सम्बन्धों के सन्दर्भ में करता है। इसकी प्रकृति व्यक्तिवादी है।
मानवता	यह मानवीय धर्म है। यह मानवीय गुणों का विकास करता है तथा आत्मा के परिष्कार से सम्बन्धित है।	यह उपयोगितावादी धर्म है। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज को संगठित रखना तथा समूहों में सामंजस्य स्थापित करना है।

♦ भारत में धार्मिक समुदाय

भारतीय समाज विभिन्न धर्मों तथा मत-मतान्तरों का संगम-स्थल रहा है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, जहाँ सभी को अपने-अपने धर्म का आचरण व पालन करने की छूट मिली है। एक समय तक भारत में एक साथ विश्व के कई धर्म फले-फूले हैं जैसे- हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म, इसाई धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म।

इस प्रकार सभी धर्मों के लोगों की उपस्थिति को यहाँ देखकर यह कहा जा सकता है कि, देश की धार्मिक संरचना बहुधर्मी है।

हिन्दू धर्म

बौद्ध धर्म

जैन धर्म

इस्लाम धर्म

ईसाई धर्म

◆ हिन्दू धर्म

- भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश रहा है जिसमें अनेकानेक धर्म-परम्पराएँ उदित होती रही हैं। इनमें हिन्दू धर्म प्राचीनतम है। इसका उद्गम ऋग्वेद से माना जाता है। उस समय यह 'आर्य धर्म' के नाम से जाना जाता था और इसको मानने वाले 'आर्य' कहलाते थे। हिन्दू धर्म की व्याख्या करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि हिन्दू किसे कहेंगे ? इसका उत्तर यह है कि हिन्दू (भारत) का निवासी हिन्दू और उसका धर्म हिन्दू हुआ। भौगोलिक दृष्टि से लोकमान्य तिलक की व्याख्या सटीक है, जो इस प्रकार है-



अगसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारत भूमिका।

“पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः ॥

- अर्थात् सिन्धु नदी के उद्गम स्थान से लेकर सिन्धु (हिन्द महासागर) तक सम्पूर्ण भारत भूमि जिसकी पितृभू (अथवा मातृभूमि) तथा पुण्यभू (पवित्र भूमि) है, वह हिन्दू कहलाता है और उसका धर्म हिन्दू धर्म अथवा हिन्दुत्व है।
- "एक धर्म के रूप में, हिंदू धर्म दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा धर्म है, जिसके 1.2 अरब से 1.35 अरब अनुयायी हैं, या दुनिया की 15 से 16 प्रतिशत आबादी हिंदू के रूप में जानी जाती है। कई विद्वान अपने धर्म को सनातन धर्म ("सनातन धर्म ही धर्म है") कहते हैं, जो मानव इतिहास से परे एक दर्शन है जो हिंदू धर्मग्रंथों में पाया जाता है।
- हिंदू धर्म में ईश्वर की एक संकल्पना, धर्म ग्रंथ या धार्मिक प्रथा को रेखांकित करना दुरुह कार्य है। हिंदू धर्म कई प्रकार के मतों और विश्वासों का संग्रह है। हिंदू धर्म में कई पंथ और देवी-देवता हैं। अपने उदार चरित्र के कारण हिंदू धर्म ने कई मतों को अपने भीतर समाहित कर लिया। इन विविधताओं के बावजूद इसमें एक एकता का सूत्र भी है जो हिंदू मतावलम्बियों को एक साथ जोड़ता है।
- हिंदू धर्म एक विविध विचार प्रणाली है जो कई विचारधाराओं, साझा अवधारणाओं, रीति-रिवाजों, विश्व प्रणालियों और तीर्थ स्थानों की विशेषता है।
- हिंदू धर्म देश में सबसे लोकप्रिय धर्मों में से एक है, लेकिन इसमें कई संप्रदाय भी हैं। हिंदू धर्म हिंदू शब्द से आया है, इसका उद्देश्य सिंधु नदी के आसपास रहने वाले लोगों को संदर्भित करना है।
- सबसे बुनियादी स्तर पर, सातों पूर्व-वैदिक और वैदिक धार्मिक विचारों के मुख्य सिद्धांतों की अपील करते हैं।
- हिंदू धर्म भारत में सबसे व्यापक रूप से प्रचलित धर्म है, जहां हिंदू कुल आबादी का 84% हैं। इसके अनुयायी बांग्लादेश, श्रीलंका, नेपाल, भूटान, बर्मा, इंडोनेशिया, गुयाना, फीजी, मारिशस, पाकिस्तान और दुनिया के अन्य भागों में भी फैले हुए हैं।

◆ हिंदू धर्म (सनातन धर्म) के स्रोत और पवित्र ग्रंथ

1. **वेद** - हिंदू धर्मग्रंथों में सबसे पवित्र, जिसका अर्थ है "दिव्य ज्ञान।" ऋग्वेद (भजन और स्तुति), यजुर्वेद (प्रार्थना और यज्ञ अनुष्ठान), सामवेद (धुन और मंत्र), और अथर्व-वेद (मन्त्र-तन्त्र) आर्यों द्वारा बनाए गए लेखों के संग्रह हैं। ये सभी - श्लोकों के रूप में लिखे गए हैं।
2. **ब्राह्मण** - ब्राह्मण धर्मशास्त्रीय प्रबंध ग्रंथ हैं। ये पद्य में रचे गये हैं और इनमें अनुष्ठानों का महत्व समझाया गया है। वनों में संन्यास का जीवन व्यतीत कर रहे तपस्वियों द्वारा रचित ग्रंथ आरण्यक के नाम से जाने जाते हैं। इसमें साधना संबंधी ज्ञान का समावेश है।
3. **उपनिषद्** - उपनिषद् आरण्यक के अंश हैं और इनमें भारतीय दर्शन की चर्चा है। उपनिषदों की संख्या लगभग 200 है। इनमें से उल्लेखनीय हैं: ईश, केन, प्रसन, मुंडक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, स्नेतस्यात्र और मैत्रेयी। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् को मिलाकर श्रुति या ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं।

रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य आरंभिक स्मृति काल (600 ई. पू. से 200 ई.) में रचे गए। इन महाकाव्यों के माध्यम से उपनिषदों का ज्ञान जनता तक पहुंचा। ऐसा माना जाता है कि रामायण की रचना महाभारत से पहले हुई थी।

भगवद गीता - महाभारत के छठे अध्याय में भागवत गीता शामिल है। इसमें कुरुक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मनुष्य, नश्वरता, सांसारिकता और मोक्षप्राप्ति की शिक्षा दी है। इसमें फल की चिंता किए बगैर कर्म करने का उपदेश दिया गया है। यह 18 पुस्तकों और 90,000 छंदों में फैली हुई है।

हिंदू धर्म के मूल तत्त्व

हिन्दू धर्म में प्रत्येक अपने धार्मिक विश्वासों के अनुरूप अर्चना, आराधना आदि करने के लिए स्वतन्त्र है। अपनी इसी विशेषता के कारण हिन्दू धर्म अद्यावधि अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सक्षम हो सका है। भारत की अधिकांश जनता हिन्दू धर्म को ही स्वीकार करती है। यद्यपि हिन्दू धर्म के कोई निश्चित सिद्धान्त अथवा मत आदि तो नहीं हैं, फिर भी कुछ ऐसे मूलतत्त्व हैं जो हिन्दू धर्म का प्राण कहे जा सकते हैं, जो इस प्रकार वर्णित किए जा सकते हैं-

◆ सनातनता

आध्यात्मिकता

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

ऋण नियम

विविधता में एकता

ईश्वर में विश्वास

कर्म का सिद्धान्त

मोक्ष का सिद्धान्त

वर्णाश्रम व्यवस्था

उदारता

हिन्दू धर्म के विविध स्वरूप (Various forms of Hindu Religion)

हिन्दू धर्म व्यक्ति के कर्तव्यों को अत्यधिक महत्त्व देता है और कर्तव्य देश, का परिस्थिति और पात्र के अनुसार भिन्नता लिए हुए होते हैं। हिन्दू धर्म में प्रत्येक अपने धार्मिक विश्वास के अनुरूप आराधना, विधि-संस्कार आदि सम्पन्न करने के लिए स्वतन्त्र होता। अद्यावधि हिन्दू धर्म का अस्तित्व अक्षुण्ण बना हुआ है। इसका कारण इसके प्रमुखतः स्वरूप हैं जो निम्नलिखित हैं -

हिन्दू धर्म के स्वरूप

सामान्य धर्म

विशिष्ट धर्म

आपधर्म

◆ बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म भारत की श्रावक परंपरा से निकला ज्ञान धर्म और दर्शन है। श्रावक (संस्कृत) या सावक (पाली) का अर्थ है "सुनने वाला" या, अधिक सामान्यतः, "शिष्य"। 600 ईसा पूर्व (छठी शताब्दी ईसा पूर्व) में गौतम बुद्ध द्वारा बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया गया।

कौशल देश के उत्तर में कपिलवस्तु शाक्य क्षत्रियों का एक छोटा-सा गणराज्य था। यहाँ शुद्धोधन नामक राजा राज्य करते थे। मायादेवी के गर्भ से नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी वन में ईसा पूर्व 623 में बालक सिद्धार्थ का जन्म शालवृक्ष के नीचे हुआ। आगे चलकर सिद्धार्थ महात्मा बुद्ध कहलाये।

बौद्ध
धर्म



◆ बौद्ध धर्म और उसके सिद्धान्त

बौद्ध धर्म एक व्यवहारवादी धर्म है। वह मानव के चरमोत्कर्ष का साधन है। बुद्ध की दृष्टि से इहलोक और परलोक में धर्म ही मनुष्य में श्रेष्ठ है। वह जीवन का विषय है, मृत्यु का नहीं। वह इसी जीवन में निर्वाण दिलाता है। वह नितान्त बुद्धिवादी है। बौद्ध

धर्म अपने मौलिक रूप में अन्धविश्वासों और अन्धपरम्पराओं में विश्वास नहीं रखता, वह किसी यान्त्रिक कर्मकाण्ड, सूक्ष्म दार्शनिकता एवं पौराणिक अन्धमान्यता पर आधृत न था। बुद्ध प्रत्यक्षवाद में विश्वास करते थे। बौद्ध धर्म व्यक्ति-निरपेक्ष है तथा वह धर्म-नियमता में विश्वास रखता है। वह आदि में, मध्य में और अन्त में कल्याणकारी है। वह बहुजनहितार्थ, बहुजनसुखार्थ, लोकानुकम्पा के लिए था। वह मानवता की उच्चतम प्रतिष्ठा का संस्थापक था।

मूल सिद्धान्त

(1) चार आर्य सत्य-बौद्ध धर्म के मूलाधार चार आर्य सत्य हैं, जिनका निरूपण बुद्ध ने इस प्रकार किया है-

1. दुःख,

2. दुःख समुदाय

3. दुःख निरोध

4. दुःख निरोधगामी मार्ग।

(1) **दुःख-** सम्पूर्ण संसार दुःखमय है। जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, रुदन, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग तथा इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि दुःख हैं।

(2) **दुःख-समुदाय (दुःख का कारण)** - सारे दुःख की जड़ तृष्णा (इच्छा) है। मनुष्य जीवनपर्यन्त तृष्णा से घिरा रहता है; यथा; काम तृष्णा, भाव तृष्णा, विभव तृष्णा। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, मानसिक वितर्क और विचारों से मनुष्य आसक्ति करने लगता है और यही तृष्णा का जन्म होता है। तृष्णायुक्त मनुष्य कभी भी दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। तृष्णा के विनाश की मनुष्य के सम्मुख वास्तविक समस्या है।

(3) **दुःख निरोध-** दुःख तभी समाप्त होगा जब उसका मूल कारण (तृष्णा) समाप्त हो जाए। तृष्णा या वासना के नाश से जन्म-मरण और उसके साथ लगे हुए दुःखों का अन्त होता है। सम्पूर्ण तृष्णा-क्षय और दुःख रहित अवस्था का नाम निर्वाण है।

(4) **दुःख निरोध मार्ग-** अब प्रश्न यह उठता है कि इस मूल कारण (तृष्णा) का निवारण कैसे किया जाए। बुद्ध ने बताया कि तृष्णा के नाश के लिए मनुष्य को रूप, वेदना, संस्कार और विज्ञान का नाश करना पड़ेगा। यह नाश तभी सम्भव है जब बुद्ध द्वारा बताये अष्टांग मार्ग का अनुसरण किया जाए। यह न तो कठोर कायाक्लेश का उपदेश देता है और न भोग-विलास का। अस्तु, इसे मध्यम मार्ग कहा गया है। इस मार्ग के आठ नियम हैं।

♦ जैन धर्म

छठी शताब्दी ई. पू. की धार्मिक क्रान्ति में जैन धर्म ने विशेष योगदान दिया। वह तत्कालीन धर्मों में एक प्रमुख स्थान रखता है जिन्होंने भारत के धार्मिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। कुछ विद्वानों का मत है कि जैन धर्म पूर्वतिहासिक है। कतिपय कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में कुछ जैन तीर्थंकरों के नाम मिलते हैं। यजुर्वेद के अनुसार ऋषभदेव धर्म-प्रवर्तकों में श्रेष्ठ हैं। अन्यत्र स्वयंभू काश्यप का वर्णन है। और कुछ विद्वानों ने उनकी पहचान ऋषभदेव से की है। यद्यपि पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इन्हें जैन तीर्थंकर स्वीकार करना कठिन है फिर भी यह सम्भव है कि जैन धर्म के बीज महावीर स्वामी से बहुत पहले बोये जा चुके थे। यद्यपि जैन धर्म के संस्थापक महावीर नहीं थे तथापि इस धर्म को पल्लवित करने का श्रेय महावीर स्वामी को है। भगवान महावीर को 24वाँ तीर्थंकर माना जाता है।

23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने आत्मसंयम के चार सिद्धांत बनाए। भगवान महावीर ने उसमें पाँचवा सिद्धांत जोड़ा और इन्हें मिलाकर जैन धर्म की शिक्षा का निर्माण हुआ। ये हैं:

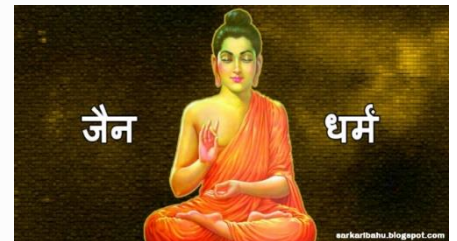
i) अहिंसा - किसी जीव को नुकसान न पहुंचाना

ii) सत्य - असत्य न बोलना

iii) अस्तेय - जो न दिया गया हो उसे न लेना

iv) अपरिग्रह - सांसारिक वस्तु का त्याग

v) ब्रह्मचर्य - अविवाहित जीवन



बौद्ध धर्म की तुलना में जैन धर्म भारत में फल-फूल रहा है। उसके बहुसंख्यक अनुयायी हैं, उनके मन्दिर हैं, उनके धार्मिक पर्व एवं त्यौहार हैं। जैन धर्म ने भारतीय जीवन के दर्शन, भाषा, कला, आचार-व्यवहार, इतिहास, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

◆ इस्लाम धर्म

इस्लाम धर्म के संस्थापक और प्रवर्तक हज़रत मोहम्मद साहब थे। इनका जन्म अरब के मक्का नगर में सन् 570 ई. में हुआ। ये दरिद्र परिवार में जन्मे थे। पैगम्बर मोहम्मद को अंतिम पैगम्बर माना जाता है जिन्होंने इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार किया और आज के इस्लाम की नींव डाली। इस्लाम के अनुयाइयों को मुसलमान कहा जाता है।

इस्लाम की शिक्षा के अनुसार एक मुसलमान को निम्नलिखित बातों पर विश्वास रखना चाहिए :

- 1) एक ईश्वर में विश्वास, जिसका कोई दूसरा रूप नहीं है और जो सर्वशक्तिमान और सर्व व्याप्त है।
- 2) विभिन्न पैगम्बरों को ईश्वर ने अपने ग्रंथों से परिचित कराया जिनमें कुरान अंतिम है।
- 3) मोसेस (मूसा) और ईसा को मिलाकर सभी पैगम्बर ईश्वर के भेजे हुए दूत थे। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि पैगम्बर मोहम्मद पृथ्वी पर ईश्वर के भेजे हुए अंतिम दूत हैं।
- 4) निर्णय के दिन में विश्वास जब दुनिया समाप्त हो जाएगी और लोग अपने जीवन में किए गए अपने कर्मों के लिए पुरस्कृत या दंडित किए जाएंगे। इसमें जन्नत (स्वर्ग) और (नरक) की भी अवधारणा शामिल है।



◆ ईसाई धर्म

ईसाई धर्म के संस्थापक ईसा मसीह थे। ईसाई धर्म पैलेस्टाइन से प्रारम्भ हुआ। इस धर्म की सम्पूर्ण जानकारी बाइबिल से मिलती है। बाइबिल के दो भाग हैं- पुरानी बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट) और नवीन बाइबिल (न्यू टेस्टामेंट)। पुरानी बाइबिल यहूदी धर्म के पैगम्बर हज़रत दाऊद तथा हज़रत मूसा द्वारा लिखी गई है। नई बाइबिल में ईसा के उपदेश हैं। यहूदी पुरानी बाइबिल को मानते हैं और ईसाई नई बाइबिल में विश्वास करते हैं।



ईसाई धर्म पर प्राचीन यूनानी दर्शन एवं विचारधारा का प्रभाव है। साथ ही यह धर्म बुद्धवाद से भी प्रभावित है। ईसाई धर्म पर इस्लाम का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। एकेश्वरवाद व मूर्तिपूजा का विरोध दोनों धर्मों की विशेषता है फिर भी दोनों धर्मों में संघर्ष होते रहे हैं।

समाज पर धर्म और संप्रदायों का प्रभाव

हिन्दू धर्म का भारतीय समाज पर प्रभाव

हिन्दू धर्म ने भारतीय समाज एवं संस्कृति पर अनेक प्रकार से प्रभाव डाले हैं जिसके कारण ही भारतीय समाज को निरन्तरता सदियों से बनी हुई है। इसने भारतीय समाज के संगठन, सामाजिक एकता, नियमों एवं नैतिकता, सामाजिक नियन्त्रण, परिवर्तन, व्यक्तियों के चरित्र-निर्माण एवं सद्गुणों का विकास, भावात्मक मुग्धा एवं संस्कृति की रक्षा आदि पर निम्न प्रभाव डाले हैं-

- 1. सामाजिक संगठन का आधार-** भारतीय समाज के संगठन का आधार वैदिक काल से हिन्दू धर्म रहा है। हिन्दू धर्म में वेदों, उपनिषदों, आचार संहिताओं के द्वारा हिन्दुओं के लिए सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म एवं आपद्धर्म के द्वारा सभी प्रकार के कर्तव्य और अधिकारों को निश्चित कर दिया गया है। इससे सभी व्यक्ति अलौकिक शक्ति के भय के कारण इनका पालन करते हैं जिसने भारतीय समाज के संगठन को आधार प्रदान करने के साथ-साथ संगठित भी रखा है। जब भी किसी प्रजाति या संस्कृति ने इसे बदलने का प्रयास किया इस सुदृढ़ आधार के कारण वह प्रजाति या संस्कृति इस वृहद् संगठन में विलीन हो गई।
- 2. सामाजिक एकता में सहायक-** हिन्दू धर्म के कर्तव्य, नियम, मूल्य, आदर्श आदि समाज कल्याण तथा व्यक्तिगत त्याग को प्राथमिकता देकर समाज में एकता को स्थापित करते हैं। हिन्दू धर्म के उत्सव, त्यौहार, व्रत, तीर्थयात्रा, मेले आदि लोगों को परस्पर एक-दूसरे के निकट आने का अवसर प्रदान करते हैं तथा भाईचारा पैदा करते हैं। जाति प्रथा में जजमानी व्यवस्था, एकता का अनोखा उदाहरण है जो कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास के कारण विभिन्न जातियों को साथ-साथ रहने के लिए प्रोत्साहित करती है तथा एकता की भावना पैदा करती है।
- 3. सामाजिक नियम एवं नैतिकता की पुष्टि-** हिन्दू धर्म में अनेक सामाजिक नियम एवं नैतिकता की पुष्टि समय, स्था- एवं परिस्थिति के अनुसार प्रदान की गई है। हिन्दू धर्म में धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक नियमों में अन्तर-रेखा खींचना कठिन है। धर्म और विशेष रूप से आपद्धर्म के कारण व्यक्ति कठिन-से-कठिन परेशानियों एवं आपात की स्थिति में धैर्य नहीं छोड़ता है। समाज को बनाए रखने, कर्तव्यों का पालन करने तथा वचनबद्धता के पालन करने में लोगों ने अपन तन-मन-धन सब कुछ त्याग दिया है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हिन्दू समाज में देखे जा सकते हैं।
- 4. सामाजिक नियन्त्रण का साधन-** व्यक्ति धार्मिक नियमों का उल्लंघन इसलिए नहीं करता क्योंकि इन नियमों के पीछे अलौकिक शक्ति का भय होता है। धार्मिक कर्तव्यों का उल्लंघन करना या तोड़ना पाप समझा जाता है इस धारणा के कारण समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करता है। झूठ बोलने बेईमानी करने आदि से डरता है। चोरी करना, डाका डालना महापाप समझता है। इस प्रकार से हिन्दू समाज में व्यक्ति नियन्त्रण में रहता है। पाप-पुण्य, कर्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरव सम्बन्धी विश्वासों ने तो व्यक्ति को नियन्त्रित करके हिन्दू धर्म को सामाजिक नियन्त्रण का सर्वोत्तम साधन बना दिया है।
- 5. सामाजिक परिवर्तन पर नियन्त्रण-** समाज में परिवर्तन सकारात्मक एवं नकारात्मक, हितकारी और अहितकारी दोनों प्रकार के होते हैं धर्म के भय के कारण भारतीय समाज में परिवर्तन की गति धीमी है। धर्म ने समाज को परम्पराओं में जकड़ रखा है इस कारण परिवर्तनों पर भी अंकुश रहता है तथा विघटनकारी नकारात्मक एवं अहितकारी परिवर्तन तो हो ही नहीं पाते हैं।
- 6. पवित्रता की भावना का प्रसार-** दुर्खीम के अनुसार समाज में दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं- पवित्र और साधारण, या पवित्र और अपवित्र। पवित्र या पावन सामाजिक क्रियाएँ धर्म के द्वारा निर्धारित होती हैं। हिन्दू धर्म में प्रातःकाल उठने से लेकर सोने तक, जन्म से लेकर मृत्यु तक ही नहीं पूर्वजन्म, वर्तमान जन्म और अगला जन्म सभी पर धर्म का नियन्त्रण होता है। इस प्रकार धर्म पवित्र क्रियाओं को जन्म देता है उनका विस्तार और प्रसार करता है। व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया को धर्म नियन्त्रित, निर्देशित एवं संचालित करता है। इसीलिए भारतीय समाज धर्म-प्रधान समाज है।
- 7. व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास-** हिन्दू-धर्म कर्म, पुनर्जन्म, भाग्य, पाप, पुण्य आदि विश्वासों एवं धारणाओं पर आधारित होने के कारण तथा वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था के द्वारा व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करता है तथा कष्ट को सहन करने की व्यक्ति में क्षमता पैदा करता है। व्यक्ति विघटन की स्थिति में भी भाग्य को कारण मानकर सन्तुलित मानसिक स्थिति में रहता है। दुःख में भी धर्म व्यक्ति को पवित्र संस्कारों के द्वारा सुख प्रदान करता है तथा जीवन से निराश नहीं होने देता है।
- 8. सद्गुणों का विकास-** धर्म अनेक प्रकार से व्यक्ति में सद्गुणों का विकास करता है, जैसे-रामलीला, रासलीला, रामायण पाठ, गीता पाठ, भजन-पूजन, व्रत, अनुष्ठान त्यौहार, जीवन के संस्कार आदि के अवसर पर सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म तथा आपद्धर्म के नियम आदि दोहराए जाते हैं। इससे व्यक्ति और समाज में धर्म द्वारा सद्गुणों का प्रसार, प्रचार एवं विकास होता रहता है।
- 9. कर्तव्यों का निर्धारण-** हिन्दू धर्म अपने समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए समय, स्थान एवं परिस्थिति के अनुसार कर्तव्यों को निर्धारित, नियन्त्रित एवं निर्देशित करता है। ऐसा विशेष रूप से विशिष्ट धर्म करता है। वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, मित्र धर्म आदि इसके उदाहरण हैं। धर्म में महत्वपूर्ण लक्षणों का उद्देश्य भी व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण करने के लिए समय-समय पर किसी-न-किसी रूप में होता रहता है।

बौद्ध धर्म का भारतीय समाज पर प्रभाव

- भारत में बौद्ध धर्म का उदय ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था की प्रतिक्रिया स्वरूप एक सुधारवादी आंदोलन के रूप में हुआ। इसे प्राचीन भारत का ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के विरोध में होने वाला प्रथम समाज - सुधार आंदोलनों कहा जा सकता है।
- बौद्ध धर्म का विकास जिन परिस्थितियों में हुआ उन परिस्थितियों में भारत में सुधारवादी आंदोलन की आवश्यकता थी। उस समय भारतीय समाज में ब्राम ब्राह्मणों का सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में एकाधिकार था। जटिल एवं हिंसात्मक कर्म काण्ड होते थे। जातिगत भेदभाव और ऊँच-नीच पायी जाती थी। महिलाओं की स्थिति निम्न होने लगी। समाज में, धार्मिक आधार पर जड़ता आ गयी थी। तथा धर्म के नाम पर अंधविश्वास एवं कुरितियों का पालन किया जाता था। ब्राह्मणों के द्वारा अन्य वर्गों का शोषण किया जाता था। तथा निम्न जातियों की स्थिति अतिदमनीय थी। ब्राह्मणों के अधिकार असीमित थे और वह अपने अधिकार का दुरुपयोग भी करते थे।
- कारण जो भी हो बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इन प्रभावों से भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों को निम्न हो भागों में बांटा जा सकता है। -

1. संरचनात्मक परिवर्तन

2. प्रकार्यात्मक परिवर्तन

1. बौद्ध धर्म के प्रभाव से भारत में सामाजिक संरचना में परिवर्तन हुआ। जिसमें क्षत्रियों की स्थिति ब्राह्मणों से उच्च हो गयी या होने का दावा किया गया। साथ ही शुद्ध वर्ण की स्थिति उतनी निम्न नहीं रह गयी। अर्थात् भारतीय- सामाजिक संरचना में क्षत्रियों, ब्राह्मणों से उच्च हो गये या होने का प्रयास करने लगे, इसी प्रकार से महिलाओं की सामाजिक स्थिति तुलनात्मक रूप से उच्च हुई क्योंकि बुद्ध ने महिलाओं को बौद्ध संघ की सदस्यता और अन्य अधिकार प्रदान किये थे। यही संरचनात्मक परिवर्तन है।

भारतीय समाज व्यवस्था में अनेक गैर संरचनात्मक परिवर्तन घटित हुए। जो निम्न हैं-

अहिंसा की प्रवृत्ति को बढ़ावा :- बुद्ध की अहिंसा के सिद्धांतों से प्रभावित होकर यज्ञ में दी जाने वाली पशु बलि कम हुई। तथा मांसाहार में कमी आई। बौद्ध मठ के अनुयायी राजा सम्राट बृहददत्त ने बलि प्रथा पर रोक लगा दी थी।

धार्मिक सरलता :- बौद्ध धर्म के प्रभाव से धार्मिक कर्म काण्डों की जटिलता में कमी आयी। तथा वेदों की अपौरुषेयता को अस्वीकार किया गया। ईश्वर के अस्तित्व को नकार दिया गया तथा बहुदेववाद का खंडन किया गया। इस प्रकार से भारतीय समाज सरलता की ओर अग्रसर हुआ।

समता की भावना का विकास :- बौद्ध मठ के अनुयायियों ने ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को अस्वीकार किया तथा जातिगत ऊँच-नीच का विरोध किया। मित्रता को सर्वोच्च महत्व प्रदान किया गया।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की उत्पत्ति :- बुद्ध ने लोगों को अपने अनुभव से प्राप्त ज्ञान को अपनाने के लिए प्रेरित किया। यह कार्य कारण संबंधित एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

दर्शन की नई धाराओं का उदय :- बुद्ध के प्रभाव से दर्शन की नवीन धाराएँ उदित हुईं। इनमें शून्यवाद का विकास नागार्जुन के द्वारा किया गया।

लोक साहित्य एवं लोक भाषाओं का विकास :- पाली व प्राकृत जैसी लोक भाषाओं में ही बुद्ध के अनुयायियों ने बुद्ध के उपदेशों का प्रसार किया। अतः इनका विकास हुआ और कुछ मत के अनुयायी राजाओं ने भी पाली एवं प्राकृत भाषा का प्रयोग किया। इससे संस्कृत का घात हुआ।

अवतारवाद का खंडन :- धर्म की स्थापना के लिए मनुष्य के रूप में ईश्वर अवतार (जन्म लेते) हैं। इस अवधारणा का खंडन हुआ।

राजनीति पर प्रभाव :- बौद्ध मत के प्रभाव से 'राज धर्म की संकल्पना' भारत में विकसित हुई और राजा जिस मत का अनुयायी होता था। वही राजधर्म हो जाता था। (वृद्धदत्त, अशोक)

भारतीय समाज पर जैन धर्म का प्रभाव

- भारत में जैन धर्म की स्थापना छठी शताब्दी ईसा पूर्व में महावीर द्वारा की गई थी। जैन धर्म अहिंसा या अहिंसा के सिद्धांत पर आधारित है। जैन धर्म सिखाता है कि सभी जीवित प्राणियों में आत्मा है और सभी जीवन पवित्र हैं।

सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव: जैन धर्म का भारतीय समाज पर कई मायनों में महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए, जैन धर्म ने शाकाहार और पशु कल्याण को बढ़ावा देने में मदद की है। जैन धर्म ने भारतीय व्यापार के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

शाकाहारवाद: जैन धर्म सिखाता है कि सभी जीवित प्राणियों में आत्मा है और सभी जीवन पवित्र हैं। अहिंसा पर इस जोर ने भारतीय समाज में शाकाहार को बढ़ावा देने में मदद की है। आज दुनिया में शाकाहारियों की सबसे बड़ी आबादी भारत में है।

पशु कल्याण: जैन धर्म यह भी सिखाता है कि जानवरों के साथ दया और सम्मान का व्यवहार किया जाना चाहिए। पशु कल्याण पर इस जोर ने भारतीय समाज में पशु कल्याण को बढ़ावा देने में मदद की है। उदाहरण के लिए, जैन भारत में पशु बलि पर प्रतिबंध लगाने के प्रयासों में सबसे आगे रहे हैं।

व्यापार और आर्थिक प्रभाव: जैन धर्म ने भारतीय व्यापार और व्यापार के विकास

में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उदाहरण के लिए, जैन भारत में बैंकिंग, वित्त और व्यापार सहित कई उद्योगों में सबसे आगे रहे हैं। भारतीय उद्यमिता के विकास में जैनियों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

भारतीय समाज पर इस्लाम धर्म का प्रभाव

- भारत में इस्लाम का आगमन शासक वर्ग के धर्म के रूप में हुआ, और इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने लम्बे समय तक भारत पर शासन किया तथा भारतीय समाज को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इस्लाम धर्म का प्रभाव भारतीय समाज पर धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, साहित्य कला आदि विभिन्न क्षेत्रों में देखा जा सकता है। इस्लाम धर्म के प्रभावों को मुख्य रूप से दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. भारतीय सामाजिक संरचना पर प्रभाव

2. भारतीय समाज पर प्रकार्यात्मक क्षेत्र में प्रभाव

भारतीय सामाजिक संरचना पर प्रभाव

- भारत पर इस्लाम के प्रभाव से पारंपरिक सामाजिक संरचना परिवर्तित हो गयी। शासक वर्ग के रूप में इस्लाम धर्म के अनुयायियों का प्रवेश भारतीय सामाजिक संरचना में हुआ और पारंपरिक सामाजिक संरचना में उनका स्थान सर्वोच्च हो गया। ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने उनकी अधीनता स्वीकार की।
- अपनी उच्च सामाजिक अस्थिति बनाए रखने के लिए उच्च जातियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार की।
- महिलाओं की सामाजिक स्थिति और अधिक निम्न हो गयी। विशेष रूप से उच्च हिन्दू जातियों की महिलाओं की स्थिति उनकी सुरक्षा के कारण निम्न हो गयी।
- इस्लामी शासकों ने अपनी सेना में समस्त जातियों के व्यक्तियों को सैनिकों के रूप में भर्ती करना आरंभ किया और जातिगत सामाजिक संरचना इससे प्रभावित हुई।

प्रकार्यात्मक (सामाजिक-सांस्कृतिक) क्षेत्र में प्रभाव :-

भारतीय समाज व्यवस्था और संस्कृति के अनेक पक्ष इस्लाम धर्म से प्रभावित हुए जो निम्न हैं। -

धर्मान्तरण :- इस्लाम की समतावादी व्यवस्था, से प्रभावित होकर निम्न जातियों ने धर्मान्तरण किया और अपनी सामाजिक निःयोग्यताओं से मुक्त हुई।

इस्लाम की सुफीवादी धार्मिक व्यवस्था से प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने इस्लाम को स्वीकार किया।

राजनैतिक और आर्थिक हितों की पूर्ति हेतु अनेक जातियों ने धर्मान्तरण किया।

भक्ति आंदोलन का उदय :- सूफीवाद से प्रभावित होकर भारत में एकेश्वरवाद निराकार ब्रह्म और भगवान और भक्त के बीच प्रेमपूर्ण समबन्ध की अवधारणाओं का विकास हुआ और भक्ति आंदोलनों का सूत्रपात हुआ।

राजनैतिक प्रभाव :- भारत की पारंपरिक राजनैतिक व्यवस्था जो राजपुत राजाओं द्वारा संचालित थी। उसके स्थान पर इस्लामी शासकों द्वारा संचालित राजनैतिक व्यवस्था मुख्य हो गयी और निर्णय लेने की शक्ति ब्राह्मणों और क्षत्रियों के हाथों से निकलकर इस्लामी शासकों के हाथों में पहुँच गयी।

जातिगत व्यवस्थाओं में शिथिलता :- इस्लाम के प्रभाव से अनेक नए व्यवसाय, आरंभ हुए। इन व्यवसायों में जातिगत आधार का कोई महत्व नहीं था। तथा अपने जातिगत व्यवसायों को त्यागने का अधिकार भी भक्तियों को प्राप्त हो गया।

शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन :- भारत में एक नई शिक्षा प्रणाली इस्लामी प्रभाव से मदरसा, प्रणाली आरंभ हुई। जिसमें सभी विद्यार्थी चाहे वह किसी धर्म के हो, इस्लामी धर्म की शिक्षा प्राप्त करते थे। हालांकि पारंपरिक हिन्दू धर्म की शिक्षा प्रणाली भी अस्तित्व में बनी रही।

स्त्रियों की निम्न स्थिति :- इस्लामी शासक बल पूर्वक हिंदू स्त्रियों से विवाह कर लेते थे। इस स्थिति से बचने के लिए महिलाओं को शिक्षा से वंचित किया गया, पर्दा प्रथा आरंभ हुई, कन्या हत्या, बाल विवाह और बहुपत्नी प्रथा जैसी प्रथाएं आरंभ हुई। जो आगे चलकर के सामाजिक 'समस्याएं' बन गई।

सांप्रदायिक संघर्ष :- इस्लाम और हिन्दुओं के बीच सांस्कृतिक संपर्क के फलस्वरूप सांप्रदायिक संघर्ष आरंभ हुआ। अनेक बार जनसामान्य हिन्दू और हिन्दू शासकों ने इस्लामी शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया। कालान्तर में सांप्रदायिक दंगे होने लगे और इसकी दुःखद परिणती 1947 में राष्ट्र के विभाजन के रूप में हुई।

हिन्दू धर्म सुधार :- इस्लाम के प्रभाव से अपने धर्म को बचाने के लिए हिन्दुओं ने अनेक परिवर्तन सुधार अपने अंदर किए। इसके लिए आर्य समाज ने जातिगत भेदभाव समाप्त करने और हिन्दुओं को एकजुट करने का कार्य किया। इसके साथ ही, जाति-पाति तोड़ो मंडल ने भी हिन्दू धर्म के सुधार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

साहित्य पर प्रभाव :- साहित्य में उर्दू, फारसी, अरबी शब्दों का प्रयोग आरंभ हुआ तथा गज़ल नामक नई विद्या का जन्म हुआ।

भाषा पर प्रभाव :- राज काज की भाषा संस्कृत के स्थान पर फारसी और अरबी हो गई, तथा आगे चलकर उर्दू का प्रयोग होने लगा। संस्कृत का पतन हुआ, हिन्दी का विकास हुआ और एक नयी भाषा उर्दू की उत्पत्ति हुई। हिन्दी साहित्य में भक्ति पूर्ण रचनाएं सबसे अधिक लिखी गई।

पहनावे में परिवर्तन :- इस्लाम के प्रभाव से पुरुष और स्त्रियों के पहनावे व श्रृंगार की विधियों में परिवर्तन हुए। महिलाओं में सलवार-कुर्ता, पुरुषों में पठानी सूट, श्रृंगार में नाक की नथ और मेहंदी लगाना इस्लाम के प्रभाव से आरंभ हुए।

संगीत में परिवर्तन :- संगीत के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए अनेक नए वाद्य यंत्र इसी समय विकसित किए गए। तबला, सांरगी जैसे वाद्ययंत्रों का विकास इसी काल में हुआ। कव्वाली गायन की शुरुवात भी इसी काल में हुई।

स्थापत्य कला में परिवर्तन :- इसके साथ ही स्थापत्य के क्षेत्र में मेहराब, गुंबद, मीनार आदि का निर्माण आरंभ हुआ। यह इंडो इस्लामिक वास्तुकला के क्षेत्र में नई शैली की स्थापना से संभव हुआ। साथ ही नये त्यौहार जैसे :- ईद-मिलाद-उन्नवी, मजान का माह आदि भी आरंभ हुए।

भारतीय समाज पर पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव

- भारत में पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव, आधुनिक काल की घटना है। ये प्रभाव अंग्रेजों के भारत में आगमन और उनके द्वारा भारत की सत्ता संभालने से हुए।
- पश्चिमी संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित किया। इसके प्रभाव सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, आदि प्रत्येक क्षेत्र में देखे जाते हैं।
- भारत में पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव को M.N. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से स्पष्ट किया है। वहीं अनेक विद्वानों ने इसे आधुनिकीकरण के रूप में स्पष्ट किया है। भारत में पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव की प्रक्रिया निरंतर चल रही है। और भारतीय संस्कृति का स्वरूप निरंतर परिवर्तित होता जा रहा है। इसके प्रभाव सकारात्मक भी हुए हैं। और नकारात्मक भी। साथ ही इन प्रमाने ने संस्चनात्मक होटल और प्राकार्यात्मक क्षेत्र प्रत्येक क्षेत्र में ये परिवर्तन हुए। भारत में पश्चिम के प्रभावों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है-

सामाजिक संरचना पर प्रभाव :- भारत में पारंपरिक जाति आधारित संरचना पश्चिम-संस्कृति के प्रभाव से परिवर्तित हुई। ये परिवर्तन निम्न हैं।

अपनी सत्ता, ज्ञान, विज्ञान और साहित्य के आधार पर अंग्रेज भारतीय जाति संस्तरण में सर्वोच्च स्तर के रूप में स्थापित हो गये।

निम्न जातीयों पश्चिमी संस्कृति को अपनाकर और शासकीय नौकरियों प्राप्त करके अपनी सामाजिक प्रस्थिती उच्च करती जा रही हैं।

भारत में एक नये मध्य वर्ग का उदय हुआ, जो शिक्षित और नौकरी पेशा लोगों का वर्ग है। इस प्रकार से भारतीय सामाजिक संरचना में मध्यवर्ग की शुरुवात के रूप में उदित हुआ।

भारतीय पारंपरिक जाति आधारित सामाजिक संरचना धीरे - धीरे मध्यवर्ग में रूपान्तरित हो रही है।

सामाजिक क्षेत्र में प्रभाव :- पश्चिम की खुली समाज व्यवस्था के प्रभाव में आकर भारत में जाति के बंधन शिथिल हुए।

बाल-विवाह, सती प्रथा पर्दा प्रथा जैसी कुप्रथाएं कानून के द्वारा निषेधित कर दी गई। साथ ही विधवा पुनर्विवाह और प्रेम विवाह का प्रचलन हुआ। अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन अपनी जाति के बाहर विवाह के रूप में हुआ।

निम्न जातियों की सामाजिक प्रस्थिती में सुधार हेतु तथा सामाजिक विषमता दूर करने के लिए कानून बने।

सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभाव :- जातियों ने अपने आपको ईसाई धर्म में धर्मान्तरित कर लिया।

धर्म परिवर्तन रोकने हेतु हिन्दू धर्म में उदारता बड़ी और जातिगत रूढ़ियाँ समाप्त होने लगी।

भारत में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण- मिशन जैसे अनेक समाज - सुधार आंदोलन शुरु हुए। इनका उद्देश्य हिन्दू धर्म का सुधार करना था।

भारतीय संस्कारों में पश्चिमी समाज का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा गया। जैसे :- विवाहोत्सव व जन्मोत्सव को पश्चिमी पद्धति से मनाना ।

भारत में नववर्ष, वेलेन्टाइन डे, क्रिसमस जैसे नए त्यौहारों का आरंभ हुआ।

पश्चिम के प्रभाव से भारत में एकेश्वरवाद की अवधारणा का विकास हुआ।

भारत में पश्चिमी प्रभाव से खान-पान और पहनावे में परिवर्तन हुए अब मांसाघर और मदिरा पान सामान्य चीज बन गई।

लोगों के पवित्रता संबंधी विचार परिवर्तित होने लगे। ब्राह्मणों ने जनेऊ धारण करना बंद कर दिया । वे नए व्यवसाय भी अपनाने लगे। जैसे - डॉक्टर इंजीनियर और सेना में आधिकारी आदि।

आर्थिक प्रभाव :- पश्चिम के प्रभाव से भारत में औद्योगिकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। जिससे कुटिर उद्योगों का विनाश हुआ और हस्तकलाए लुप्त हो गई।

बड़े- बड़े उद्योगों का विकास हुआ जिससे रोजगार के नवीन अवसर सृजित हुए। नए नौकरी पेशा वर्ग का उदय हुआ।

शैक्षणिक प्रभाव :- पारंपरिक, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का ह्यास हुआ। जिससे नैतिकता में गिरावट आई। वैज्ञानिक शिक्षा का प्रारंभ हुआ जिससे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में राष्ट्र ने उन्नति की। स्त्रियों व निम्न जातियों को शिक्षा के अधिकार प्राप्त हुए।

सामाजिक मूल्यों पर प्रभाव:-

पाश्चात्य शिक्षा एवं दर्शन से व्यक्ति वादिता और उपभोक्ता वादी, सामाजिक मूल्यों को अधिक महत्व मिलने लगा। भारतीय समाज की सामुहिकता व सहकारिता की भावना कमजोर हुई।

परिवार एवं विवाह पर प्रभाव :- पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से भारत में संयुक्त परिवारों का विघटन तथा एकल परिवारों की स्थापना बढ़ गई है। परिवार के अंदर सदस्यों के सामाजिक संबंधों में परिवर्तन हुआ पति और पत्नी के संबंध समतावादी और मित्रवत होने लगे। परिवार के अंदर मातृपक्ष के संबंधियों को भी महत्व मिलने लगा।

राजनैतिक प्रभाव :- संपूर्ण समाज को नियंत्रित करने वाली राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन हो गये। पश्चिम के प्रभाव के पूर्व भारत में राजनैतिक प्रक्रिया धर्म से निर्धारित होती थी। अंग्रेजी काल से भारत पंथ-निरपेक्ष राष्ट्र बन गया । अर्थात् धर्म राजनैतिक व अन्य मामलों के निर्धारण में महत्वहीन हो गया। भारत का राजनैतिक एकीकरण तथा भारत का एक राष्ट्र राज्य के रूप में उदय, पश्चिम के प्रभाव से ही हुआ। भारत में प्रजातांत्रिक प्रणाली का उदय हुआ।



वर्ण व्यवस्था

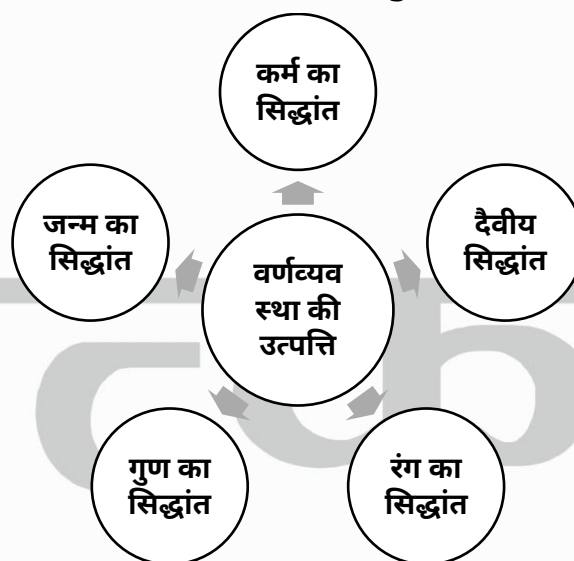
वर्ण का अर्थ

- वर्ण' शब्द संस्कृत की 'वृ' धातु से निकला है जिसका शाब्दिक अर्थ 'धारण करना' या 'चुनना' है। इसका तात्पर्य वृत्ति अथवा व्यवसाय चयन (Choice of Profession) से है। अतः आरंभ में जो व्यक्ति एक निश्चित व्यवसाय को चुनते थे ये एक विशेष वर्ण के सदस्य कहलाते हैं। वर्ण व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के दसवें मंडल के पुरुष सूक्त में हुआ है, जिसमें चार वर्ण थे- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र की उत्पत्ति विराट पुरुष से बताई गई है।



वर्ण व्यवस्था की अवधारणा - वर्ण व्यवस्था को जाति व्यवस्था के साथ जोड़ा जाता है जो भारतीय समाज में भेदभाव व उत्पीड़न का मूल कारण माना जाता है जो की गलत अवधारणा है।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति संबंधी सिद्धांत (Theories of the Origin of Varna System)



- दैवीय सिद्धांत** - इस सिद्धान्त के अंतर्गत वर्णों की उत्पत्ति दैवीय (ईश्वरी) मानी गयी है। इसका सीधा अर्थ यह है कि देवताओं ने वर्णों को निर्मित किया है।
- ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष से बताते हुए कहा गया है की -

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

उरुदूतस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।

मुख से	-	ब्राह्मण
बाहु से	-	क्षत्रिय
उर (पेट) से	-	वैश्य
पद (पैर) से	-	शूद्र

- कर्म का सिद्धांत** - समाज व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न कार्य सौंप दिए गए, जो व्यक्ति शिक्षा, ज्ञान, धर्म और तप में अधिक निपुण थे, उन्हें ब्राह्मण वर्ग के अंतर्गत रखा गया। जो व्यक्ति उत्साही, वीर और साहसी थे, उन्हें 'क्षत्रिय' कहा गया। जिन व्यक्तियों के पास जीविका उपार्जित करने अथवा व्यापार का विस्तृत ज्ञान हो उन्हें 'वैश्य' कहा गया तथा सेवा में कुशल व्यक्तियों को "शूद्र" कहा गया।

- **रंग का सिद्धांत** - भृगु ऋषि के विचार में यह विभाजन शरीर के रंग के आधार पर हुआ। ब्राह्मणों का रंग सफेद (श्वेत), क्षत्रियों का लाल (लोहित), वैश्य (पीला) शूद्र का काला (श्याम) था शरीर के इन विभिन्न रंगों के आधार पर मानव समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया।
- **गुण का सिद्धांत**
 - वर्णों के विभाजन के मुख्य आधार गुण रहे हैं।
 - धर्मशास्त्रों ने तीन गुणों को बताया है - (सत्त्व, रज, तम)

जैसे-

ब्राह्मण - सतोगुण
क्षत्रिय - रजोगुण
वैश्य - रजोगुण और तमोगुण
शूद्र - केवल तमोगुण

इस प्रकार वर्ण की उत्पत्ति गुणों के आधार पर हुई है।

• जन्म का सिद्धांत:-

इस सिद्धांत के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति जन्म के सिद्धांत द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। इसके अनुसार जो व्यक्ति जिस वर्ण में जन्म लेता है वह आजीवन उसी वर्ण का सदस्य रहता है।

जैसे :- रावण ब्राह्मण वर्ण का था, किंतु वह कर्म से सर्वविदित है। इसी प्रकार युधिष्ठिर जन्म से क्षत्रिय थे, किंतु कर्म से ब्राह्मणों के समतुल्य। अतः वर्ण की उत्पत्ति का आधार जन्म से माना जाता है।

♦ वर्ण-व्यवस्था के महत्त्व

- **कार्यगत कुशलता**-प्रत्येक वर्ण का कर्म क्षेत्र भिन्न था तथा सभी कर्म आवश्यक एवं एक-दूसरे से सम्बन्धित थे। अतः समाज के चारों वर्ण अपने कार्य-क्षेत्र में पूर्ण कुशलता प्राप्त करने में लगे रहते थे।
- **सामाजिक सौहार्द का विकास**-कोई भी वर्ण आत्मनिर्भर नहीं होता था इसलिए पारस्परिक निर्भरता ने वर्णों के बीच सहयोग उत्पन्न कर सामाजिक-संगठन को दृढ़ बनाने में सहायता पहुँचाई।
- **शक्ति के संतुलन का आधार**-ज्ञान शासन, व्यापार तथा समाज की मुख्य शक्ति है। वर्णव्यवस्था के द्वारा इन चारों मुख्य शक्तियों को चार पृथक समूहों में विभक्त कर दिया गया, जिससे समाज में शक्ति संतुलन बना रहे तथा विभिन्न शक्तियाँ एक समूह विशेष में केंद्रित न हो।
- **श्रम विभाजन और विशेषीकरण**- वर्ण-व्यवस्था द्वारा श्रम विभाजन किया जाने वाला बेहतर प्रयास था। इसके कारण व्यक्ति को बचपन से ही अपने परिवार में कुछ विशेष कार्य करने का व्यावहारिक प्रशिक्षण मिलता था, जिसकी सहायता से ये शीघ्र ही उस व्यवसाय में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेता था।
- **सामाजिक संघर्ष से मुक्ति** प्राचीनकाल में इसने व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण करके उन्हें प्रतियोगिता और संघर्ष से छुटकारा दिलाया। यदि प्रत्येक व्यक्ति सभी क्षेत्र में हस्तक्षेप करना आरंभ कर दे तब न तो व्यक्ति एक विशेष व्यवसाय में विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न ही मनोवैज्ञानिक रूप से संतुष्टि महसूस कर सकता है।
- **रक्त की पवित्रता का सिद्धांत**- भारतीय समाज में विद्यमान अनेक प्रजातीय विविधताओं के मध्य रक्त को पवित्र बनाए रखने के लिए वर्ण-व्यवस्था एक बेहतर प्रयत्न था। इसके द्वारा संपूर्ण समाज इन चार वर्णों में विभाजित करके सभी वर्णों को अपनी-अपनी पवित्रता बनाए रखने के अधिकाधिक अवसर प्रदान किए गए।
- **एकता की भावना**-वर्ण-व्यवस्था के ही कारण एकता की स्थापना हुई। एक ही कर्म करने वाले अपने हितों की रक्षा करने के लिये संघ बना लेते थे। उनमें परस्पर प्रेम एवं सहयोग की भावना रहती थी। धीरे-धीरे इस भावना का प्रसार सारे समाज में हो गया।

♦ वर्ण व्यवस्था की विशेषताएँ

- गुण, कर्म पर आधारित विभाजन वर्ण व्यवस्था, सामाजिक विभाजन या वर्गीकरण की एक विशिष्ट व्यवस्था है इसमें वर्गीकरण का आधार गुण, कर्म एवं व्यवसाय है। इसी के आधार पर इस व्यवस्था के अंतर्गत समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है। ये चार वर्ण - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं।
- श्रम विभाजन की तटस्थ प्रणाली वर्ण व्यवस्था की योग्यताओं के अनुरूप एक - प्रणाली है इसमें ऊँच-नीच की भावना का पूर्ण अभाव है स्पष्टतः यह सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था नहीं है बल्कि सामाजिक विभेदीकरण की व्यवस्था है।
- अनुलोम विवाह की अनुमति होती है, इसके अंतर्गत उच्च वर्ण के पुरुष का निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह हो सकता है।
- व्यवसाय का पूर्ण निर्धारण - इस व्यवस्था में चारों वर्णों के व्यवसाय पूर्ण निर्धारित होते हैं प्रारम्भ में - इनका निर्धारण गुणकर्म आधारित होता था किन्तु आगे चलकर कई वर्णों के व्यवसाय आनुवांशिक हो गए।
- योग्यताओं और क्षमताओं का उचित मूल्यांकन इसमें विभिन्न वर्णों की योग्यताओं का उचित मूल्यांकन करने का प्रयास किया जाता है।
- आध्यात्मिकता वर्ण व्यवस्था के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति के लिये अपने वर्ण के कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य माना जाता है।

♦ वर्ण व्यवस्था के दोष

- यह व्यवस्था समाज में शक्ति व उच्च स्थिति की समर्थक है।
- इसमें श्रम व धन का असमान वितरण है।
- जाति व्यवस्था का विकास संस्कृतीकरण को बढ़ावा देना है।
- वर्ण व्यवस्था ने ही समाज में अस्पृश्यता और शोषण को जन्म दिया।
- आज एक ही वर्ण से सम्बंधित विभिन्न जातियाँ राजनीतिक स्वार्थ के लिए संगठित होकर प्रजातंत्र के विकास में बाधा पैदा कर रही है।
- वर्ण व्यवस्था के कारण जब समाज चार भागों में विभक्त हो गया तो लोगों की सामुदायिक भावना संकुचित हो गई।
- राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। फलस्वरूप विदेशियों ने देश को गुलाम बनाकर सैकड़ों वर्षों तक शासन किया।
- यह व्यवस्था व्यावहारिक रूप से वर्ण परिवर्तन की अनुमति प्रदान नहीं करती है।
- यह व्यवस्था अमानवीय शोषण में सहायक है।
- यह मानवतावादी आदर्शों के विरुद्ध है।
- वर्ण व्यवस्था के माध्यम से जाति व्यवस्था का विकास हुआ है।

♦ विभिन्न वर्णों के कर्तव्य

भारतीय विद्वानों ने विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों के कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना की है। अर्थशास्त्र में भी अहिंसा, सत्य वचन, पवित्रता, ईर्ष्या न करना, दान तथा क्षमा को सभी वर्गों का धर्म अथवा कर्तव्य बताया गया है। मनुस्मृति के अनुसार अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्र रहना और इन्द्रियों का नियन्त्रण चारों वर्णों के समान धर्म या कर्तव्य है।

1. **ब्राह्मण वर्ण के कर्तव्य** - ब्राह्मण का समाज में सर्वोच्च स्थान है। मनुस्मृति में ब्राह्मण का विशिष्ट कर्म अध्ययन एवं अध्यापन कहा गया है। ज्ञान और पवित्र आचरण के कारण ही इन्हें विभिन्न प्रकार के दंडों से मुक्ति प्राप्त की। कौटिल्य ने कहा कि किसी भी प्रकार का अपराध करने वाले ब्राह्मण को मृत्यु अथवा प्रताड़ना का दंड न दिया जाए। ब्राह्मणों के मुख्य कर्तव्य वेदों का अध्ययन करना, अध्यापन करना, यज्ञ के कार्य करना, दान देना व दान लेना, शिक्षा प्रदान करना, धार्मिक कार्य करना आदि थे।
2. **क्षत्रिय वर्ण के कर्तव्य** - समाज में क्षत्रिय वर्ग की स्थिति द्वितीय श्रेणी की थी राज्य और समाज की रक्षा का भार इसी वर्ग पर था। ऋग्वेद में इसे ही छत्र कहा गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- हानि से रक्षा करने वाला।

क्षत्रियों के कार्यों में प्रजा की रक्षा करना, शासन करना, दान देना, अध्ययन करना, विषयों में आशक्ति न रखना आदि प्रमुख थे।

3. **वैश्य वर्ण के कर्तव्य** - वैश्य का समाज में तीसरा स्थान था। जो धन एवं संपत्ति के स्वामी थे। अर्थ संबंधी समस्त नीतियों का संचालन वैश्य वर्ग करता था।

वैश्यों के प्रमुख कर्तव्य पशुओं की रक्षा, कृषि करना, व्यापार करना, ब्याज लेना आदि थे।

बौद्धायन ने वैश्यों को ब्राह्मण तथा वर्ण की रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण करने का अधिकार दिया है।' महाभारत में भी यही व्यवस्था दी गई है।

4. **शूद्र वर्ण के कर्तव्य** - समाज में इसका स्थान निम्न था उन्हें पतित और हेय माना जाता था। विराट पुरुष अथवा ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न होने के कारण उसे समाज के सभी वर्णों का भार ढोना पड़ता था।

शूद्रों के प्रमुख कार्य - उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना।

कुछ स्मृतियों में यह भी उल्लेखित है कि शूद्र वर्ण के लोग किसी भी तरह से धन का संग्रह व अध्ययन न करे और अपना संपूर्ण जीवन स्वामी की सेवा एवं उनकी दया पर व्यतीत करे।

वर्ण और जाति में अंतर (Distinction between Varna & Caste)

वर्ण व्यवस्था में गुण कर्म व व्यवसाय के आधार पर समाज को विभाजित किया गया है जबकि जाति व्यवस्था सामाजिक, सांस्कृतिक मान्यताओं एवं आदर्श जाति के आधार पर तय होती हैं।

वर्ण-व्यवस्था	जाति व्यवस्था
वर्ण-व्यवस्था का इतिहास अत्यधिक प्राचीन है। इस व्यवस्था का आरंभ भारत में कम-से-कम पाँच हजार वर्ष पहले हुआ था।	जाति व्यवस्था का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले स्मृतियों में दी गयी व्यवस्थाओं के प्रभाव से ही जाति-व्यवस्था का विकास हुआ।
वर्ण-व्यवस्था केवल चार वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित है।	जाति-व्यवस्था लगभग तीन हजार जातियों और उपजातियों में विभाजित है।
वर्ण-विभाजन का आधार व्यक्ति के गुण और कर्म है।	जाति की सदस्यता का एकमात्र आधार व्यक्ति का जन्म अथवा वंश है।
वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत अनुलोम विवाह की छूट दी गयी है अर्थात् एक पुरुष अपने वर्ण अथवा अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता है।	एक जाति का व्यक्ति अपनी जाति के बाहर वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं कर सकता है।
वर्ण-व्यवस्था समानता की नीति पर आधारित है। इसके अंतर्गत कार्य के दृष्टिकोण से सभी वर्णों को समान महत्त्व दिया गया।	जाति-व्यवस्था मौलिक रूप से असमानता पर आधारित है। इसमें प्रत्येक जाति की स्थिति दूसरी जातियों की तुलना में ऊँची अथवा नीची होती है।
वर्ण-व्यवस्था एक कार्यात्मक व्यवस्था है, जिसमें किसी वर्ण को दूसरे वर्ण से सामाजिक और धार्मिक आधार पर पृथक् नहीं किया गया।	जाति-व्यवस्था अस्पृश्य जातियों तथा निम्न जातियों के साथ सभी प्रकार के संबंधों पर बहुत-से प्रतिबंध लगा दिए गए।



ऋण एवं यज्ञ

मनुष्य संसार में अपने अस्तित्व के लिये एवं स्वयं के कल्याण तथा उत्थान हेतु प्रकृति के कई चीजों से सहायता प्राप्त करता है। वैदिक परंपरा के अनुसार मनुष्य जिससे भी सहायता लेता है उसका ऋणी होता है और इन ऋणों से मुक्ति के लिये उसे यज्ञ करना होता है।

ऋण सिद्धान्त से तात्पर्य तीन ऋणों से मुक्ति से है। ये तीन ऋण देव, ऋषि तथा पितृ ऋण के नाम से जाने जाते हैं। इस ऋणत्रय से मुक्त होना गृहस्थ का महत्वपूर्ण कर्तव्य बताया गया। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति यज्ञ कर ग्रहण से मुक्त होता है। ब्रह्मचर्याश्रम के उपरान्त व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है तथा यज्ञों को करके ऋण -मुक्त होता है और तदुपरांत वह वानप्रस्थ आश्रम में और अन्त में संन्यास आश्रम में जीवन जीता है।

ऋण

मुख्यतः तीन प्रकार के ऋण शास्त्रों में वर्णित है-

पितृ ऋण, देव ऋण, ऋषि ऋण

उपनयन संस्कार के समय धारण की जाने वाली यज्ञोपवीत में जो तीन धागे होते हैं वह भी इन तीन ऋणों के पर्याय होते हैं।

भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य जन्म लेते ही अपने देवों, ऋषियों और पितरों के प्रति ऋणी हो जाता है। इसीलिए उपनयन संस्कार के अवसर पर ब्रह्मचारी को जो तीन सूत्रों वाला यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। उसके तीन सूत्र ऋणत्रय के ही प्रतीक हैं। इन तीन ऋणों से मुक्त होने का वर्णन विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों - विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मिताक्षरा श्रुति, मनुस्मृति, महाभारत आदि में मिलता है।

पितृ ऋण- पितृ ऋण हमें जन्म देने वाले हमारे पिता की वजह से हम पर ऋण है। संसार में आने और यहाँ के सुख भोगने का सामर्थ्य माता पिता और पूर्वजों द्वारा ही मिलता है। अतः मनुष्य को माता पिता और पूर्वजों के प्रति ऋणी माना जाता है, इससे मुक्त होने के लिए प्रत्येक मनुष्य को विवाह करने के पश्चात सन्तान उत्पन्न करने व उनका भरण पोषण करने का आदेश ग्रन्थों में दिया गया है।

आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश विवाह पश्चात ही वैध माना गया है। धर्म पूर्वक गृहस्थाश्रम का पालन करके तथा अपनी सन्तानों को संस्कार देकर ही व्यक्ति पितृ ऋण से मुक्त हो सकता है। यह सृष्टि की निरन्तरता का प्रतीक है।

देव ऋण- मनुष्य दिव्यशक्तियों के कारण ही उपलब्ध सृष्टि के संसाधनों का उपयोग कर पाता है। वेदों में जल, वायु, सोम, अग्नि, आकाश तथा धरती जैसे प्राकृतिक तत्वों की देव रूप में पूजा की गई है। अतः मनुष्य को ईश्वर तथा देवों के प्रति ऋणी होना चाहिए और यज्ञों व देवस्तुतियों द्वारा देवऋण से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

देव ऋण से मुक्ति के लिए इनकी पूजा के साथ विभिन्न यज्ञ विधियों का भी वेदों में वर्णन है। इसमें धर्म पूर्वक कमाये गए धन से यज्ञ के माध्यम से देवों को विभिन्न तत्व यज्ञ के रूप में प्रदान किए जाते हैं।

गृहस्थाश्रम तथा वानप्रस्थ आश्रम इसके लिए सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं।

ऋषि ऋण- ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य ऋषियों और गुरु कृपा द्वारा ज्ञानवान बनता है। उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक जब गुरु के समीप रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शिक्षा ग्रहण करता है, तब वह न केवल गुरु द्वारा दिये गए ज्ञान से लाभान्वित होता है बल्कि हमारे महान ऋषि मुनियों द्वारा दिए गए ज्ञान के भण्डारों का भी लाभ उठाता है। उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान को प्रयोग में लाना तथा उस ज्ञान से दूसरों को भी लाभान्वित करना ऋषि ऋण से मुक्ति का उपाय है।

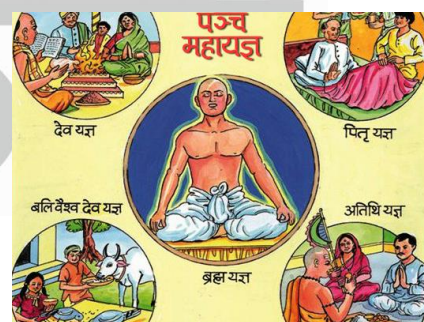
ऋषि ऋण की अवधारणा हमारे शास्त्रों एवं गुरु शिष्य परम्परा के संरक्षण का एक माध्यम है।

इसके अलावा अतिथियों एवं अन्य जीवों के प्रति व्यक्ति के कर्तव्य कर्म के निर्धारण हेतु **अतिथि ऋण एवं जीव ऋण** का उल्लेख भी किया गया है।

यज्ञ

धार्मिक कर्तव्य पालन या विभिन्न ऋणों से मुक्त होने के लिए व्यक्ति का प्रयत्न ही यज्ञ कहलाता है जिसका निर्धारण विभिन्न यज्ञों के रूप में किया गया है। जैसे

देव-यज्ञ :- मनुष्य देवताओं का आभारी या ऋणी है, अतः व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि उसके पास जो कुछ है उसमें कुछ अंश देवताओं को समर्पित करके कृतज्ञता प्रकट करे। इसी हेतु व्यक्ति अग्नि में आहुति कर देव ऋण से मुक्त होता है।



ब्रह्म यज्ञ :- वेद-वेदान्त का स्वाध्याय और अध्यापन ब्रह्म यज्ञ है। ब्रह्म यज्ञ द्वारा व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानान्तरित करता है जिसमें ज्ञान-विज्ञान का विकास एवं सुरक्षा होता है।

पितृ-यज्ञ:- गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिये व्यक्ति विवाह करता है तदुपरान्त पितृ ऋण से मुक्ति के लिये वंश-परम्परा को आगे बढ़ाता है। श्राद्ध कर्म, पितरों का तर्पण और प्रजनन (पुत्र के रूप में) द्वारा पितृ यज्ञ पूरा करने का विधान धर्मशास्त्रों द्वारा बनाया गया है।

अतिथि यज्ञ :- इसे 'नृ यज्ञ' भी कहते हैं। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति अतिथि अर्थात् बिना तिथि के घर पर आये हुये में हमान का सम्मान, स्वागत और सेवा करता है और अतिथि ऋण से मुक्त होता है।

जीवन यज्ञ:- अन्य जीव जन्तुओं की रक्षा और उनकी वृद्धि के प्रयासों को इस यज्ञ द्वारा सुनिश्चित किया गया है।

ऋण तथा यज्ञ का समकालीन संदर्भ

वैदिक परम्परा में ऋण एवं यज्ञ की अवधारणा सामाजिक - नैतिक व्यवस्था के साथ ही सांसारिक जीवन - में व्यवस्था कायम रखता है। यह 'सर्वभूतहिते रताः' की भावना को भी प्रोत्साहित करता है।

आधुनिक भारतीय समाज में व्यावहारिक रूप से इनका महत्त्व कम हुआ है, परन्तु अचेतन रूप से आज भी यह सदस्यों के क्रियाओं के निदेशक के रूप में क्रियाशील हैं। गया में पितरों का तर्पण, श्राद्ध कर्म, अस्थियों का गंगा में प्रवहन, पुत्र प्राप्ति की असीम चाह की विद्यमानता आदि के रूप में इनके प्रभाव को आज भी देखा जा सकता है। विशिष्ट संस्कृति और विशिष्ट व्यक्तित्व के निर्माण में आज भी इस सिद्धांत का महत्त्व बना हुआ है, परन्तु शहरों की अपेक्षा गाँवों में आज यह अधिक महत्त्वपूर्ण है।



संस्कार

संस्कार का अर्थ -

संस्कार शब्द का मूल अर्थ 'शुद्धिकरण' है। संस्कार का अभिप्राय व्यक्ति को शुद्ध करने वाली क्रियाओं से है।

मूलतः संस्कार का अभिप्राय उन धार्मिक क्रियाओं से है। जिनमें किसी व्यक्ति को अपने समुदाय का पूर्ण रूप से योग्य सदस्य बनाने के उद्देश्य से उसके शरीर, मन और मस्तिष्क को पवित्र करने के लिए की जाती थी।

संस्कार की अवधारणा- वैदिक साहित्य में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। संस्कारों का विवेचन मुख्य रूप से गृह्यसूत्रों में ही मिलता है, किन्तु इनमें भी संस्कार शब्द का प्रयोग यज्ञ सामग्री के पवित्रीकरण के अर्थ में किया गया है। वैखानस स्मृति सूत्र (200 से 500 ई.) में सबसे पहले शरीर संबंधी संस्कारों और यज्ञों में स्पष्ट अन्तर मिलता है।

ऋग्वेद में संस्कारों का उल्लेख नहीं है, किन्तु इसके कुछ सूक्तों में विवाह, गर्भाधान और अंत्येष्टि से संबंधित कुछ धार्मिक कृत्यों का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में केवल श्रौत यज्ञों का उल्लेख है, इसलिए इस ग्रंथ से संस्कारों की विशेष जानकारी नहीं मिलती। अथर्ववेद में विवाह, अंत्येष्टि और गर्भाधान संस्कारों का पहले से अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। गोपथ ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में उपनयन एवं गोदान संस्कारों के धार्मिक कृत्यों का उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा समाप्ति पर आचार्य की दीक्षान्त शिक्षा मिलती है।

♦ संस्कार के उद्देश्य :-

संस्कार के निम्नलिखित लिखित उद्देश्य विभिन्न ग्रंथों एवं विद्वानों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। ,

1. मनुष्य की मानसिक एवं शारीरिक उन्नति करना, जिससे वह सभी प्रकार के आंतरिक एवं बाह्य दोषों से मुक्त होकर प्रगति कर सके।
2. ऐसा करने से मनुष्य (जिसने आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त कर ली है) आनन्द एवं मुक्ति प्राप्त कर देवता के समान समृद्धि प्राप्त करता है। (भुक्ति - भौतिक संपदा)
3. उनका लक्ष्य समाज के मूल्यों और मान्यताओं की रक्षा करना था।
4. नैतिक गुणों का विकास करें।
5. भौतिक सुख-सुविधा को बढ़ाना जरूरी है।
6. विभिन्न अनुष्ठानों के माध्यम से भूत-प्रेत आदि बुरी शक्तियों से लोगों की रक्षा करना।
7. कुछ आदर्शों एवं मॉडलों के अनुरूप मूल्यों के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करें, जिसका अंतिम लक्ष्य व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति हो।

♦ व्यक्ति के समाजीकरण में संस्कारों का महत्त्व एवं योगदान

- डॉ. राजबली पाण्डेय का कथन है कि सभी हिन्दू संस्कार व्यक्ति का समाजीकरण करने तथा उसके सामाजिक व्यक्तित्व को विकसित करने का प्रमुख आधार रहे हैं। इनकी सामाजिक अनिवार्यता को स्पष्ट करने के लिए ही इन्हें धार्मिक स्वरूप दिया गया। वास्तव में, सामाजिक जीवन में विभिन्न संस्कारों का कार्य मानव-जीवन के परिष्कार और शुद्धिकरण में सहायता पहुंचाना, व्यक्तित्व के विकास को सुविधाजनक बनाना, मानव शरीर को पवित्र बनाना, मनुष्य की सभी भौतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं को प्रेरणा देना तथा सामाजिक समस्याओं का समाधान करके आनन्दपूर्वक मुक्ति के लिए तैयार करना रहा है। इस आधार पर विभिन्न संस्कारों के समाजशास्त्रीय महत्त्व को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है :

शारीरिक तथा मानसिक विकास -

- सभी संस्कार व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास का माध्यम रहे हैं। बाल्यावस्था से सम्बन्धित संस्कारों का एकमात्र उद्देश्य बालक को अपना शारीरिक और मानसिक विकास करने के अवसर देना तथा इसके लिए आचरण के अनुशासित

नियमों को प्रभावपूर्ण बनाना रहा है। वास्तव में, शारीरिक और मानसिक विकास का सम्बन्ध चरित्र की दृढ़ता पर निर्भर है। प्राचीन समाजों में शिक्षा के द्वारा चरित्र का विकास करने का कोई धर्मनिरपेक्ष और संस्थागत साधन नहीं था। इस दशा में उपनयन, वेदारम्भ तथा समावर्तन के द्वारा ही शिक्षा की एक ऐसी पद्धति को लागू किया गया जिसके द्वारा व्यक्ति का शारीरिक तथा मानसिक विकास हो सके।

सामाजिक समस्याओं का समाधान -

- समाज की अनेक समस्याओं का समाधान करने में भी संस्कारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उदाहरण के लिए, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म तथा निष्क्रमण आदि इस तरह के संस्कार हैं जो यौन-विज्ञान तथा प्रजनन-शास्त्र से सम्बन्धित हैं। प्राचीन काल में स्वास्थ्य विज्ञान का अधिक विकास न होने की दिशा में यह संस्कार ही स्वास्थ्य की शिक्षा तथा बच्चे के जन्म से सम्बन्धित समस्या को समाधान करते थे। शैक्षणिक संस्कारों के द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में उन समस्याओं का समाधान किया गया जो वर्तमान सामाजिक जीवन की प्रमुख समस्याएं बनी हुई हैं। विवाह संस्कार का उद्देश्य भी दामपत्य जीवन की समस्याओं समाधान करके पारिवारिक जीवन को अधिक संगठित बनाना था। यहां तक कि अंत्येष्टि संस्कार को भी ऐसा रूप दिया गया जिससे परिवार की परम्पराओं को चिरस्थायी बनाये रखा जा सके। इस तरह सभी संस्कार मानव जीवन के विकास की एक क्रमबद्ध योजना को प्रस्तुत करते हैं।

शिक्षा का सर्वोत्तम साधन-

- शिक्षा के क्षेत्र में सभी संस्कारों का विशेष योगदान रहा है। संस्कारों के द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, उसका सम्बन्ध पुस्तकीय अथवा धार्मिक शिक्षा से ही नहीं होता बल्कि इस शिक्षा की प्रकृति सामाजिक, पारिवारिक और नैतिक होती है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का बोध कराना तथा उसके व्यक्तित्व का विकास करना है। हिन्दू संस्कारों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान करके एक माता, पिता, पुत्र, विद्यार्थी, गृहस्थ आदि के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को अनुशासित जीवन की शिक्षा दी।

समाजीकरण में सहायक

- संस्कार ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार करके जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। गर्भाधान से लेकर चूड़ाकरण तक के सभी संस्कार माता-पिता तथा बच्चे के बीच मधुर सम्बन्धों को विकसित करते हैं। उपनयन से लेकर विवाह तक के सभी संस्कार व्यक्ति को उसके शैक्षणिक और सामाजिक कर्तव्यों से परिचित कराते हैं। संस्कारों के द्वारा ही व्यक्ति यह सीखता है कि विभिन्न दशाओं में उससे किस तरह के व्यवहारों की आशा की जाती है। इस प्रकार संस्कार एक लम्बे समय तक सामाजिक प्रशिक्षण तथा समाजीकरण का कार्य करते रहे।

♦ संस्कारों के तत्त्व

- अग्नि को साक्षी मानकर यज्ञ आहुति करना।
- तर्पण, दान, बलि देना।
- इष्ट देवी-देवताओं की पूजा एवं आराधना।
- पवित्र जल जैसे गंगाजल का शुभ कार्यों में प्रयोग करना।
- पूर्व दिशा में संस्कारों का सम्पादन करना।
- अनेक प्रतीकात्मक वस्तुओं जैसे हल्दी, कुमकुम, चावल, नारियल, फूल आदि का प्रयोग।
- सामाजिक सहभागिता तथा सामाजिक सहमति का होना।

♦ संस्कारों की उपयोगिता

- मानव जीवन को अनुशासित करना।
- व्यक्ति तथा समाज के अंतर्क्रियात्मक संबंधों को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका।
- मानव व्यक्तित्व को विकसित करने में सहायक।
- सामाजिक समस्याओं का समाधान करना।
- शिक्षा का सर्वोत्तम साधन के रूप में।
- सामाजीकरण में सहायक।
- शारीरिक तथा मानसिक विकास में।



◆ जन्मपूर्व के संस्कार -

- **गर्भाधान-** यह जीवन का प्रथम संस्कार है, जहाँ काम के द्वारा पुरुष अपनी पत्नी के गर्भ में बीज स्थापित करता है। इस संस्कार का प्रचलन उत्तर वैदिककाल से हुआ। गर्भाधान प्रत्येक पुरुष व स्त्री के लिए पवित्र एवं अनिवार्य संस्कार है जिसका उद्देश्य स्वस्थ, सुंदर एवं सुशील संतान प्राप्त करना है।
- **पुंसवन (Fetus Protection)-** गर्भधारण का निश्चय हो जाने के बाद गर्भाधान के तीसरे माह में पुत्र प्राप्ति की कामना हेतु यह संस्कार संपन्न किया जाता है। 'पुंसवन' अर्थात् वह अनुष्ठान या कर्म जिससे पुत्र की उत्पत्ति हो (पुमान् प्रसूते येन कर्मणा वनमीरितम्) चंद्रमा के पुष्य नक्षत्र में होने पर यह संस्कार संपन्न किया जाता है क्योंकि यह समय पुत्र प्राप्ति के लिए उपयुक्त माना गया है।
- **सीमांतोन्नयन (Satisfying Wishes of The Pregnant Mother)-** सीमांतोन्नयन का अभिप्राय "सौभाग्य संपन्न होना" है। गर्भपात रोकने के साथ-साथ गर्भस्थ शिशु एवं उसकी माता की रक्षा करना भी इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है। इस संस्कार के माध्यम से गर्भिणी स्त्री का मन प्रसन्न रखने के लिये पति गर्भवती की माँग भरता है। यह संस्कार गर्भ धारण के छठे अथवा आठवें महीने में होता है।

◆ बाल्यावस्था के संस्कार (Childhood Rituals)

- **जातकर्म (Birth Rituals)-** शिशु के जन्म के बाद परिवार में प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है, और उसी समय जन्म के तुरंत पश्चात् यह संस्कार किया जाता है। बच्चे के जन्म के बाद पिता स्नान करके उसके पास जाता है व पुत्र को स्पर्श करता है। इस अवसर पर वह शिशु के कान में आशीर्वादात्मक मंत्रों का उच्चारण करता है, जिसके माध्यम से दीर्घ आयु एवं बुद्धि की कामना की जाती है।
- **नामकरण (Name Giving)-** शिशु के जन्म के दूसरे अथवा बारहवें दिन नामकरण संस्कार संपन्न होता है। नामकरण के अवसर पर माता और शिशु को स्नान कराने के बाद माँ अपने शिशु को शुद्ध वस्त्रों में ढँककर पिता की गोद में दे देती है, उसके बाद प्रजापति नक्षत्र के देवता, अग्नि एवं सोम को आहुतियाँ दी जाती हैं। पिता शिशु के दाहिने कान में उसके नाम का उच्चारण करके उसके दीर्घ आयु होने की कामना करता है।
- **निष्क्रमण (Taking the Child Outdoors)-** निष्क्रमण का अर्थ बाहर की ओर जाना है। इस संस्कार के पहले तक शिशु और माँ को घर से बाहर जाने की अनुमति नहीं दी जाती। इस संस्कार में माँ शिशु को लेकर बाहर जाती है और शिशु को सूर्य के दर्शन एवं किसी मंदिर में जाकर देवदर्शन कराये जाते हैं।

- **अन्नप्राशन (Giving the Child Solid Food)**-शिशु को पहली बार अन्न खिलाना उसके जीवन का एक महत्वपूर्ण अवसर होता है।
- **चूड़ाकरण/चौलकर्म (Hair Cutting)** पहली बार शिशु के बाल काटे जाते हैं। सूत्रों के अनुसार जन्म के प्रथम वर्ष की समाप्ति अथवा तीसरे वर्ष की समाप्ति तक कभी-भी यह संस्कार संपन्न किया जाना चाहिए। इस क्रिया में मंत्रोच्चारण के बाद शिशु के केश उतार दिए जाते हैं, और केवल शिखा के बाल छोड़ दिए जाते हैं।
- **कर्णवेध (Ear Piercing)**- इस संस्कार में शिशु का कान छेदकर उसमें कुंडल पहना दिया जाता है। सामान्य रूप से यह संस्कार जन्म के पाँचवें वर्ष में किया जाता है। यह संस्कार धार्मिक रीति- रिवाज़ से संपन्न किया जाता है। इसमें बच्चे को पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठाया जाता है। तत्पश्चात् वैदिक मंत्रों के उच्चारणों के माध्यम से पहले दायाँ और फिर बायाँ कान छेद किया जाता है।

♦ शैक्षणिक संस्कार (Academic Rituals)

- **विद्यारम्भ (Knowledge Initiation)**-जब बच्चे का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाता है तब यह संस्कार संपन्न कराया जाता है। किसी शुभ नक्षत्र में गणेश, सरस्वती, बृहस्पति और गण देवताओं की पूजा के साथ बालक को गुरु के द्वारा पूर्व दिशा की ओर बैठकर पट्टी पर बालक से ओम्, 'स्वस्ति', 'नमः शिवाय' आदि लिखवाकर विद्यारम्भ कराया जाता है।
- **उपनयन/ यज्ञोपवीत(Sacred Thred)**- 'उपनयन' का शाब्दिक अर्थ समीप ले जाना अर्थात् बालक को शिक्षा के लिए गुरु के पास ले जाने से है। स्मृतियों के अनुसार उपनयन संस्कार से ही कोई व्यक्ति 'द्विज' बनता है। सूत्रों के अनुसार इस संस्कार में ब्राह्मण बालक के लिए आयु के 8 वें वर्ष में, क्षत्रिय बालक के 11वें वर्ष में तथा वैश्य बालक के 12वें वर्ष में इस संस्कार को सम्पन्न किया जाना चाहिए।
- **वेदारंभ (Study of Vedas)** बुद्धि का समुचित विकास हो जाने के बाद यह संस्कार तब किया जाता है जब बालक वेदों का अध्ययन आरंभ करने के योग्य हो जाए। प्रारंभ में उपनयन तथा वेदों का अध्ययन एक साथ ही प्रारंभ होता था। वेदों का अध्ययन गायत्री मंत्र के साथ प्रारंभ किया जाता है।
- **केशान्त** - गुरु के पास रहकर अध्ययन करते हुए विद्यार्थी की 16 वर्ष की आयु में प्रथम बार दाढ़ी और मूँछ बनवाई जाती है। यह संस्कार बालक द्वारा यौवन में प्रवेश करने का सूचक है। इसका उद्देश्य ब्रह्मचारी को एक बार पुनः कठोर संयम में रहकर जीवन व्यतीत करने और ब्रह्मचर्य के नियमों का स्मरण दिलाना है।
- **समावर्तन (Completing Education)**- गुरुकुल में शिक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात् विद्यार्थी जब अपने घर लौटता था तब समावर्तन नामक संस्कार गुरुकुल में संपन्न होता था। यह ब्रह्मचर्य आश्रम का अंतिम संस्कार है।

♦ विवाह संस्कार (The Marriage)

यह प्राचीन हिन्दू समाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार है, जिसकी प्रासंगिकता आज भी विद्यमान है। गृहस्थ आश्रम का प्रारंभ इसी संस्कार से होता है। विवाह शब्द 'वि' उपसर्ग तथा 'वह' धातु से बनता है जिसका शाब्दिक अर्थ है- "वधू को वर के द्वारा ले जाना। इस संस्कार के द्वारा व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम के कर्तव्यों का बोध कराया जाता है तथा उसे दायित्व सौंपे जाते हैं जो धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक हैं।

♦ अंत्येष्टि / अंतिम संस्कार (Funeral Cremation)

मानव जीवन का अंतिम संस्कार अंत्येष्टि है, जो मनुष्य की मृत्यु होने पर संपादित किया जाता है। एवं इस संस्कार से मनुष्य के सांसारिक जीवन की समाप्ति हो जाती है।



जाति व्यवस्था

जाति भारतीय समाज में स्तरीकरण का प्रमुख आधार मानी जाती है। भारत में शायद ही कोई ऐसा समूह या समुदाय हो जो कि अपने आपको जाति से बचाए रख पाया हो। मुसलमान व ईसाइयों में भी जाति प्रथा पाई जाती है। प्राचीनकाल में भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का उदय हुआ, जो कालान्तर में अनेक जातियों में परिवर्तित हो गया। भारतवर्ष में लगभग 3000 जातियों एवं उपजातियों के सदस्य निवास करते हैं। जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की एक अनोखी संस्था है जो कि आज भी किसी न किसी रूप में समाज में स्थापित है।

♦ जाति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

जाति अंग्रेजी के कास्ट का हिन्दी पर्यायवाची शब्द है, जो कि पुर्तगाली शब्द कास्टा (Casta) से बना है। जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म या भेद होता है। हिन्दी का जाति शब्द संस्कृत भाषा की 'जन' धातु से बना है, जिसका अर्थ उत्पन्न होना व उत्पन्न करना है। जाति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग सन् 1563 में ग्रेसिया डी ओर्टा ने किया था। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने जाति शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में किया है। संक्षेप में, जाति की निम्न परिभाषाएँ दी जा सकती हैं-



1. **मैकाइवर एवं पेज के अनुसार**, "जब व्यक्ति की स्थिति पूर्व निश्चित होती है अर्थात् जब व्यक्ति अपनी स्थिति में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की आशा लेकर उत्पन्न नहीं होता, तब व्यक्ति समूह या वर्ग जाति के रूप में स्पष्ट होता है।"
2. **श्री केतकर के अनुसार**, "जाति एक सामाजिक समूह है, जिसकी दो विशेषताएँ हैं। प्रथम- जाति की सदस्यता सिर्फ उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो कि उस जाति विशेष के सदस्यों से ही पैदा हुए हैं और इस प्रकार उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति एक जाति में आते हैं। द्वितीय- जिसके सदस्य एक निश्चित सामाजिक नियम के द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं।"
3. **श्री मजूमदार और मदान के अनुसार**, "जाति एक बन्द वर्ग है।"
4. **श्री एन.के. दत्ता के अनुसार**, "एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते तथा अन्य जाति के व्यक्तियों के साथ भोजन करने एवं पानी पीने के सम्बन्ध में इसी प्रकार के कुछ कम कठोर नियम रहते हैं तथा अनेक जातियों के कुछ निश्चित व्यवसाय होते हैं। जातियों में संस्तरणात्मक श्रेणियाँ होती हैं, जिनमें ब्राह्मण की सर्वोत्तम स्थिति रहती है। मनुष्य की जाति का निर्णय जन्म से होता है। यदि व्यक्ति नियमों का उल्लंघन करने के कारण जाति से न निकाल दिया जाए तो एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन होना सम्भव नहीं है।"

♦ जाति की विशेषताएँ

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने जाति की विशेषताओं को अपने-अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया, जिसमें श्री ए.के. दत्ता, किंग्सले डेविस व डॉ. घूरिये मुख्य हैं। श्री ए.के. दत्ता ने जाति की छः विशेषताओं को स्पष्ट किया है-

1. जाति का कोई भी सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता।
2. प्रत्येक जाति में भोजन और खान-पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध अवश्य होते हैं।
3. जाति के पेशे प्रायः निश्चित होते हैं।
4. सभी जातियों व उपजातियों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण पाया जाता है, जिसमें ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च रहता है।
5. जन्म के साथ ही जाति की सदस्यता व्यक्ति को जीवनपर्यन्त के लिए प्राप्त हो जाती है, किन्तु जातीय नियमों के विपरीत कृत्यों को करने से उसकी सदस्यता समाप्त भी की जा सकती है।
6. सम्पूर्ण जाति-व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है।

डॉ. घूरिये ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति. '**जाति, वर्ग व्यवसाय**' में जाति की निम्न विशेषताओं को स्पष्ट किया है।

1. **समाज का खण्डीय विभाजन-** जाति व्यवस्था समाज को विभिन्न खण्डों या भागों में विभक्त कर देती है तथा प्रत्येक खण्ड या भाग अनेक उपखण्डों या उपभागों में विभक्त हो जाता है तथा प्रत्येक खण्डों व उपखण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद, कार्य आदि निश्चित रहते हैं। जिससे व्यक्तियों को निष्ठा, प्रेम व सहानुभूति अन्य जाति की अपेक्षा अपनी जाति में अधिक होती है। अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण समाज विभिन्न खण्डों व उपखण्डों में विभक्त हो जाता है।

- संस्तरण-** जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियों में एक संस्तरण या ऊँच-नीच के क्रम अथवा उतार-चढ़ाव के क्रम देखने को मिलते हैं। संस्तरण में परिवर्तन धन, सम्पत्ति या प्रतिष्ठा के आधार पर सम्भव नहीं होता, क्योंकि जाति एक बन्द वर्ग का रूप है। जातीय संस्तरण के ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान पर तथा अस्पृश्य जातियों या अछूत जातियों को सबसे निम्न स्थान पर रखा गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण जाति व्यवस्था एक संस्तरण में विभक्त रहती है।
- भोजन व सहवास पर प्रतिबंध-** जाति व्यवस्था की यह एक विशिष्ट विशेषता है। प्रत्येक जाति का ऐसा नियम होता है कि दूसरी जाति के सदस्यों के हाथ का बना भोजन निषिद्ध रहता है। उच्च जातियों के हाथ का बना भोजन निम्न जाति के सदस्य खा सकते हैं, किन्तु निम्न जातियों के हाथ का बना भोजन ब्राह्मण आदि उच्च जाति के लोग नहीं खा सकते। इसी प्रकार के नियम अन्य सभी जातियों व उपजातियों के मध्य पाए जाते हैं।
- नागरिक व धार्मिक निर्योग्यताएँ और प्रतिबन्ध-** जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण जाति मानी जाती है। इसलिए सबसे अधिक अधिकार ब्राह्मणों को प्रदान किए गए हैं और सबसे कम अधिकार निम्न जातियों के होते हैं।
- व्यवसाय के चयन का अभाव-** जाति व्यवस्था में प्रत्येक जाति के व्यवसाय या पेशे पूर्व निर्धारित या परम्परागत होते हैं तथा इनमें परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नहीं दिया जाता। समाज अपने सदस्यों से आशा करता है कि वे जाति व्यवस्था द्वारा निर्धारित व्यवसाय या पेशों को ही करें, जिससे समाज की व्यवस्था में किसी प्रकार का व्यवधान न आए।
- विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध-** प्रत्येक जाति में इस नियम का कठोरता से पालन किया जाता है कि इसके सदस्य अपनी ही जाति में विवाह सम्बन्ध स्थापित करें। इस रूप में जाति अन्तर्विवाही समूह का प्रतिनिधित्व करती है। विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध सभी जातियों में चाहे वह उच्च जाति हो या निम्न, निश्चित रूप से पाया जाता है।

उपरोक्त विशेषताएँ जाति की परम्परागत विशिष्टताएँ समझ में आती हैं, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में परिवर्तित होती जाति व्यवस्था के कारण इसकी विशेषताएँ भी बदल रही हैं। अतः आवश्यक है कि समाजशास्त्रियों को जाति व्यवस्था पर पुनः सूक्ष्म अध्ययन व विश्लेषण करना चाहिए।

♦ जाति के कार्य / गुण

वर्तमान समय में जाति व्यवस्था की कितनी ही आलोचना क्यों न की जाए, किन्तु इसने भारतीय समाज को संगठित रखकर व्यवस्थित रूप से व्यक्ति के पद एवं कार्यों को सुनिश्चित किया है। जाति व्यवस्था ने हमारे समाज को जितनी लम्बी अवधि तक एवं प्रभावपूर्ण ढंग से नियन्त्रित रखा, वैसी अन्य कोई व्यवस्था नहीं कर सकी। जाति व्यवस्था ने व्यक्ति और समाज के लिए इतने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

संक्षेप में, जाति के कार्यों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

- व्यक्तिगत जीवन में जाति के कार्य
- जातीय समुदाय के लिए जाति के कार्य
- सामाजिक जीवन में जाति के कार्य

(i) व्यक्तिगत जीवन में जाति के कार्य गुण -

- व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण** - जाति प्रथा के कारण व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण जन्म से ही हो जाता है। जाति के कार्यों की समीक्षा करते हुए **जे.एच. हट्टन** ने लिखा है कि "जाति व्यवस्था व्यक्ति को उसके जन्म से ही निश्चित सामाजिक स्थिति प्रदान करती है, जिसमें निर्धनता, सम्पत्ति तथा सामाजिक क्षेत्र में सफलता, असफलता कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकती है।
- व्यवसाय का निर्धारण** - व्यक्ति के जन्म से ही व्यवसाय का निर्धारण जाति व्यवस्था के कारण हो जाता है, जिससे वह व्यर्थ की प्रतियोगिता से सिर्फ बच ही नहीं जाता बल्कि चिन्तामुक्त भी रहता है। जन्म से ही उसे पैतृक व्यवसाय से सम्बन्धित ज्ञान मिलना प्रारम्भ हो जाता है जिससे परिपक्वता आने तक वह उस व्यवसाय में दक्षता प्राप्त कर लेता है।
- मानसिक रूप से सुरक्षित** - जाति व्यवस्था के कारण ही व्यक्ति अपने आपको मानसिक रूप से सुरक्षित समझता है। मानसिक सुरक्षा में स्थिरता तब ही आती है, जब व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन शनैः शनैः आते हों। जाति व्यवसाय के कारण व्यक्ति के जीवन में सब कुछ पूर्व नियोजित रहता है, जिससे उसे व्यर्थ के कष्ट नहीं उठाने पड़ते हैं। यदि व्यक्ति के जीवन में बार-बार उतार-चढ़ाव आता है तो वह व्यक्ति मानसिक रूप से कभी सुरक्षित नहीं रह सकेगा।
- जीवन साथी के चुनाव में सहायक** - जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति के अपने नियम हैं जिनका पालन करना प्रत्येक सदस्य का परम कर्तव्य है। विवाह के सम्बन्ध में भी प्रत्येक जाति के अपने नियम हैं, जो व्यक्ति को जीवन साथी चुनने में सहायता करते हैं।

5. **सामाजिक सुरक्षा-** जाति व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराती है। यदि जाति का कोई सदस्य कभी किसी संकट में फंसा जाता है तो जाति उसको आवश्यक सुविधा तो उपलब्ध कराती ही है उसे संकट से उबरने का तरीका भी बताती है, जिससे व्यक्ति उस संकट से दूर ही रहे।

(ii) जातीय समुदाय के लिए जाति के कार्य

1. **सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा-** प्रत्येक जाति की अपनी स्वयं की एक शिक्षा पद्धति, व्यवहार करने की विधियाँ तथा आचार संहिता होती है, जिसे उस जाति विशेष की संस्कृति कहते हैं। इस संस्कृति का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण होता रहता है, जिसके कारण उस जाति के सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा हो जाती है।
2. **धार्मिक भावना की सुरक्षा-** जाति व्यवस्था ने व्यक्ति की धार्मिक भावना को सुरक्षित रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जे.एच. हट्टन ने जाति के कार्यों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "धार्मिक क्षेत्र में जाति बदलते हुए नैतिक आदर्शों या जनमत के सुझाव के अनुसार सामाजिक व धार्मिक व्यवहार विधानों को परिवर्तित या सुधार सकती है।" इस प्रकार जाति अपने भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वासों व अनेकानेक धार्मिक विधियों से व्यक्ति के जीवन को स्थिर बनाने व धार्मिक भावना को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।
3. **सामाजिक स्थिति को स्थिर बनाए रखना-** जाति व्यवस्था ने समाज को स्थिर बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जे.एच. हट्टन के अनुसार, "जाति व्यवस्था जाति के लिए दूसरी जाति की तुलना में सामाजिक स्थिति का निर्धारित करती है। दूसरी ओर जाति के सदस्यों को संगठित रूप में रखकर एकता बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण सहयोग करती है।"
4. **रक्त की शुद्धता बनाए रखने में सहायक-** जाति ने जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया वह रक्त की शुद्धता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान करना है। जाति के प्रत्येक सदस्य का विवाह अपनी ही जाति में सम्भव है, जिससे रक्त की शुद्धता बनी रहती है। इस प्रकार जाति व्यवस्था ने जातीय समुदाय के लिए भी महत्वपूर्ण कार्य कर जातीय एकता को बनाए रखा है।

(iii) सामाजिक जीवन में जाति के कार्य

जाति व्यवस्था ने न केवल व्यक्तित्व को स्थिरता प्रदान की तथा जातीय समुदाय को सुरक्षित किया बल्कि सम्पूर्ण समाज को संगठित रखने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जाति के सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी कार्य इस प्रकार हैं-

1. **सामाजिक एकता बनाए रखने में सहायक-** जाति सामाजिक संरचना को न केवल स्थिरता प्रदान करती है बल्कि उसके स्वरूप को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान देती है। जाति व्यवस्था ने समाज को संगठित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। सी.एम. जोड़ ने जाति के कार्यों की समीक्षा इस प्रकार की है, "जाति प्रथा अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में इस विशाल देश में निवास करने वाले विभिन्न वर्गों को एकता के सूत्र में पिरोने का एक सफलतम प्रयास था।" जाति व्यवस्था के कारण ही सामाजिक एकता व संगठन को सृष्टता व स्थिरता प्राप्त है। भारतीय समाज में प्रत्येक जाति का एक निश्चित स्थान है। विभिन्न संस्कृतियाँ एकाकार होकर सामाजिक संरचना को स्थिरता प्रदान कर रही है। प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी स्थिति से सन्तुष्ट हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पूर्व के कार्यों के फल से ही हमें यह जाति प्राप्त हुई है।
2. **समाज में श्रम विभाजन में सहायक-** जाति व्यवस्था ने समाज में श्रम विभाजन जैसे महत्वपूर्ण कार्य को पूरा करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। चूँकि व्यक्ति के जन्म से ही उसके कार्य निश्चित होते हैं, अतः उनमें किसी प्रकार का टकराव नहीं होता। यदि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यों का विभाजन नहीं होता तो समाज में भी इस तरफ प्रतियोगिता का बोलबाला होता, जो समाज की एकता के लिए खतरा उत्पन्न कर देता। समाज के अनेक कार्य धार्मिक भावना के आधार पर पूरे किए जाते हैं, जिससे व्यक्ति टकराव व प्रतिस्पर्धा का रास्ता छोड़कर सहयोग की भावना से कार्य करता है। जिससे समाज में श्रम विभाजन की सकारात्मकता को बल मिलता है।
3. **राजनैतिक स्थिरता बनाए रखने में सहायक-** जाति व्यवस्था ने समाज की राजनैतिक चेतना को बरकरार बनाए रखा। अनेक विदेशी विद्वानों ने जाति व्यवस्था को सराहा है, जिसके कारण हिन्दू समाज राजनैतिक स्थिरता को कायम रख सका। इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि जब भी भारत पर विदेशियों ने कोई हमले किए, इस सुसंगठित समाज ने उनका डटकर मुकाबला किया। जाति व्यवस्था ने उनकी धार्मिक भावना को बनाए रखा, जिससे समाज की राजनैतिक चेतना स्थिर व अक्षुण्ण बनी रही।

व्यवस्था के अवगुण अथवा दोष

यद्यपि जाति व्यवस्था व्यक्ति, समुदाय तथा समाज की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी व्यवस्था है, परन्तु समय और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ जाति प्रथा के स्वरूप में अनेक दृष्टि से अत्यन्त परिवर्तन आ गये हैं तथा इसके अनेक दोष भी उभर कर सामने आने लगे हैं। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं

1. **अप्रजातांत्रिक-** जाति व्यवस्था पूर्णतया अप्रजातांत्रिक है। यह व्यवस्था समानता की भावनाओं पर कुठाराघात करती है तथा इसने समाज में ऊँच-नीच की भावनाओं को जन्म दिया है। प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का समान अधिकार होता है, परन्तु जाति प्रथा द्वारा निम्न जातियों के सदस्यों को इस अधिकार से युगों तक वंचित रखा गया। असमानता को महत्व देने वाली जाति प्रथा अप्रजातांत्रिक है।

2. **श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक-** जाति व्यवस्था वंशानुगत या परम्परागत व्यवसाय करने पर बल देती है और व्यक्ति को किसी अन्य व्यवसाय का चयन करने से रोकती है। अतः व्यक्ति अपने जातिगत व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय नहीं कर पाता, चाहे उसमें उस व्यवसाय को करने की क्षमता है या उससे लाभ होता है। उदाहरण के लिए, एक ब्राह्मण जूते का व्यवसाय नहीं कर सकता।
3. **सामाजिक प्रगति में बाधक-** जाति प्रथा सामाजिक प्रगति में सदा बाधक रही है। जाति के सदस्यों को सदा जाति बहिष्कार का भय लगा रहता है इसके अतिरिक्त कार्य जन्म से निश्चित हो जाने के कारण सारे समाज की क्रिया स्थिर हो जाती है। किसी भी प्रकार के सामाजिक या भौतिक आविष्कार का विचार मन में नहीं उठता। वास्तव में रूढ़िवादिता और स्थिरता जातिवाद का ही परिणाम है। ऐसी दशा में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विचार नहीं पनप पाता। परिवर्तन के बिना प्रगति की आशा करना ही व्यर्थ है।
4. **सांस्कृतिक विकास में बाधक-** जाति सांस्कृतिक विकास में एक बाधा का कार्य करती है। इसके अंदर विभाजन और ऊँच-नीच की भावना रहने के कारण सांस्कृतिक एकता का अभाव बना रहता है। भेदभाव के कारण प्रत्येक समूह एक-दूसरे से दूर रहता है और उनमें परस्पर मिलकर सांस्कृतिक प्रगति करने की भावना नहीं उत्पन्न हो पाती। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति एक प्रकार से पृथक जाति समूह के रूप में कार्य करती है अतः उसके सदस्य अपनी रूढ़िग्रस्त सांस्कृतिक परम्पराओं से ही जुड़े रहते हैं और उनमें परिवर्तन पसंद नहीं करते।
5. **व्यक्तित्व के विकास में बाधक-** सभी व्यक्तियों की शारीरिक-मानसिक क्षमताएँ समान नहीं होतीं। अतः समाज का हित इसी में है कि व्यक्तिगत क्षमता के आधार पर ही कार्यों का विभाजन किया जाये। जाति व्यवस्था में इस सिद्धांत की पूर्ण अवहेलना की जाती है। इसमें केवल व्यवसायों का ही नहीं बल्कि उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों का बँटवारा भी व्यक्तिगत क्षमता के आधार पर न होकर जन्म के आधार पर होता है। व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का स्वतंत्र रूप से विकास करने का अवसर नहीं मिलता।
6. **स्त्रियों की निम्न स्थिति-** जाति व्यवस्था भारतीय समाज में स्त्रियों की निम्न स्थिति तथा दुर्दशा के लिए उत्तरदायी रही है। बाल-विवाह, अशिक्षा, दहेज, विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबंध, पुरुषों की प्रभुता इत्यादि ने नारी की स्थिति गिराने में सहायता दी है तथा वह पति की दासी, बच्चे पैदा करने की मशीन तथा रसोई संचालने वाली सेविका मात्र बनकर रह गई।
7. **अस्पृश्यता को प्रोत्साहन -** जाति प्रथा ने अस्पृश्यता को प्रोत्साहन दिया है। अस्पृश्य जातियों पर इतने अधिक प्रतिबंध लगा दिए गए थे कि उनका जीवन दुष्कर होकर रह गया था। अन्य लोगों के मन में उनके प्रति घृणा पायी जाती थी। सरकारी प्रयासों के बावजूद आज भी अस्पृश्यता की समस्या भारतीय समाज में विद्यमान है।
8. **आर्थिक विकास में बाधक-** जाति व्यवस्था के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने परम्परागत व्यवसाय को करने की ही अनुमति मिलती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अनेक लाभपूर्ण पेशों से वंचित रह जाता है। दूसरी ओर अनेक लाभप्रद पेशे व्यक्ति की योग्यता और अयोग्यता को देखे बिना ही कुछ विशेष जाति के सदस्यों को प्राप्त हो जाते हैं। इस तरह के विभाजन से कार्य ही कम नहीं होता, वरन धीरे-धीरे व्यक्ति की कार्यक्षमता भी कम हो जाती है तथा समाज में धन का वितरण असमान हो जाता है। जाति व्यवस्था ने पवित्रता का क्षेत्र इतना संकुचित कर दिया है कि व्यक्ति अनेक प्रकार का उत्पादन कार्य करने से ही नहीं बचते बल्कि कृषि में अनेक रासायनिक खादों का प्रयोग करने को भी अपवित्र समझ लेते हैं।
9. **राष्ट्रीय एकता में बाधक-** जाति व्यवस्था जहाँ छोटे-छोटे समुदायों की एकता में योग देती है वहाँ यह राष्ट्र की एकता में सहायक नहीं है। जब सम्पूर्ण देश या राष्ट्र की एकता का प्रश्न आता है तो व्यक्ति अपने-अपने जातीय समुदायों के हित को सर्वोपरि मानते हुए उसी के बारे सोचते-विचारते हैं। इस प्रकार इन छोटे-छोटे समुदायों से अलग-अलग वातावरण देखने को मिलता है।



आश्रम व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था - आश्रम व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन की महत्वपूर्ण संस्था है। आश्रम मनुष्य के प्रशिक्षण की समस्या से सम्बद्ध है, जो संसार की सामाजिक विचारधारा के सम्पूर्ण इतिहास में अद्वितीय है।

'आश्रम' शब्द की उत्पत्ति 'श्रम्' धातु से है जिसका अर्थ है परिश्रम या प्रयास करना। इस प्रकार आश्रम वे स्थान हैं जहाँ प्रयास किया जाए।

मूलतः आश्रम जीवन की यात्रा में एक विश्राम स्थल का कार्य करते हैं जहाँ आगे की यात्रा के लिये तैयारी की जाती है। जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। प्रभु ने मोक्ष प्राप्ति की यात्रा में आश्रमों को विश्रामस्थल बताया है।

पी.एन. प्रभु ने आश्रम को इस प्रकार परिभाषित किया है—“आश्रम का अर्थ वह स्थान है जहाँ परिश्रम किया जाता है अथवा आश्रम व्यक्ति के द्वारा सम्पादित की जाने वाली क्रिया को ही कहा जाता है।”

बी. एम. सिंह के अनुसार, “आश्रम का अर्थ जीवन का वह भाग है जिसमें मनुष्य प्रयत्न करता रहता है।”

आश्रम व्यवस्था की अवधारणा - भारतीय संस्कृति में संपूर्ण जीवनकाल को व्यवस्थित करने के लिए आश्रम व्यवस्था के रूप में नियोजित किया गया है। जीवन के सभी शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, व्यवहारिक तथा आध्यात्मिक आयामों का विकास आश्रम व्यवस्था से ही निर्धारित किया जा सकता है।

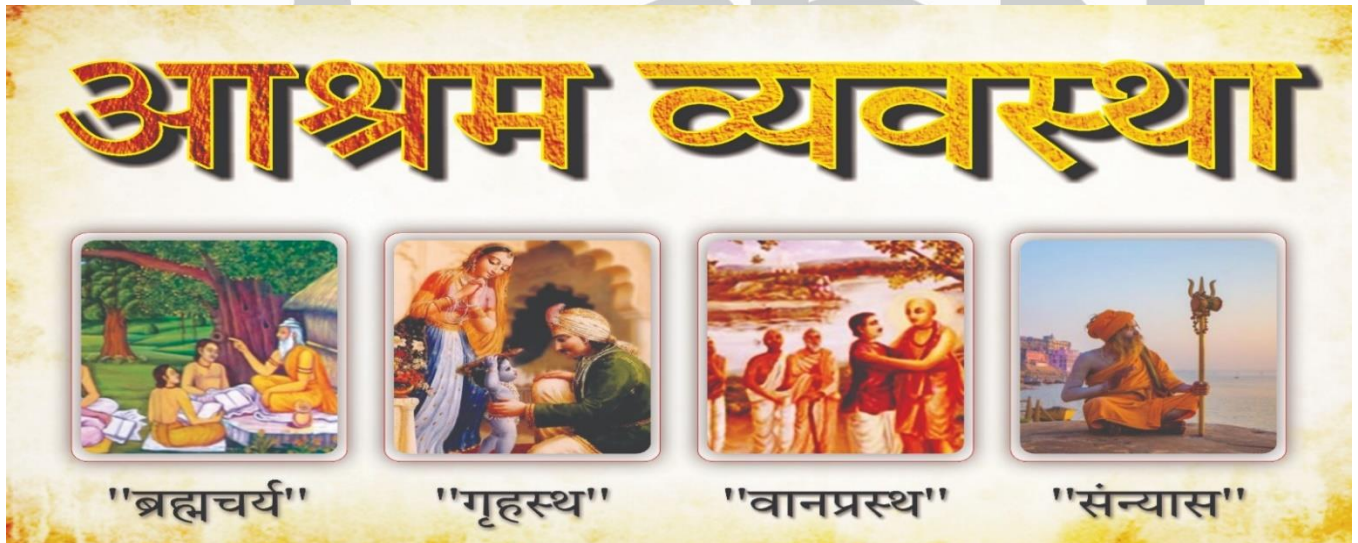
- आश्रमों की उत्पत्ति के समय विषय में मतभेद है। **रिज डेविड्स** जैसे कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आश्रमों का प्रचलन बुद्ध अथवा त्रिपिटकों की रचना के पश्चात् हुआ होगा क्योंकि इनमें उनका उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु यह मत असंगत लगता है। इसका कारण यह है कि उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में हम आश्रमों का यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में इनका उल्लेख है।
- **जाबालोपनिषद्** में हम सर्वप्रथम चारों आश्रमों का उल्लेख प्राप्त करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आश्रमों की कल्पना उपनिषद् काल में ही हो चुकी थी किन्तु सूत्रकाल तक आते-आते यह व्यवस्था समाज में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गयी।
- स्मृतिकाल में विभिन्न आश्रमों के विधि-विधान निर्धारित किये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि चारों आश्रमों का विधान भी एक साथ नहीं हुआ होगा। प्रारम्भ में मात्र दो आश्रम थे- ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ। तत्पश्चात् वानप्रस्थ तथा अन्तोगत्वा सन्यास आश्रम का विधान किया गया होगा। सन्यास की उत्पत्ति निश्चयतः अवैदिक श्रमण विचारधारा के प्रभाव से हुई थी। सूत्रकाल तक समाज में आश्रम व्यवस्था पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुकी थी। स्मृतिकाल में विभिन्न आश्रमों के नियम निर्धारित किये गये।

♦ आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य-

- व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास करना।
- पंचमहायज्ञ, पुरुषार्थ और संस्कारों की पूर्ति करना।
- व्यक्ति की क्षमताओं का उचित व परिष्कृत रूप में उपयोग करना।
- समाज को संगठित करना तथा व्यक्ति को समाज से सक्रिय रूप से सम्बद्ध करना।
- सामाजिक संघर्ष व वैयक्तिक तनावों से मुक्ति दिलाना।
- हिन्दू दर्शन में वर्णित जीवन के चरम लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त करना।

◆ आश्रम व्यवस्था के प्रकार-

हिन्दू धर्मशास्त्र मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानते हैं तथा प्रत्येक आश्रम के निमित्त पच्चीस-पच्चीस वर्ष की अवधि निर्धारित करते हैं जिन्हें क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास आश्रम के नाम से जाना जाता है। व्यक्ति का विभिन्न आश्रमों में प्रवेश ब्रह्मचर्य आश्रम से प्रारम्भ होता है ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थ, वानप्रस्थ व सन्यास आश्रमों से गुजरता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है।



- **ब्रह्मचर्य आश्रम(0-25वर्ष)** - यह प्रथम आश्रम है जिसका अर्थ है 'ब्रह्म के मार्ग पर चलना। जीवन के प्रारम्भिक 25 वर्ष इस आश्रम हेतु निर्धारित किए गए हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होता है। उपनयन संस्कार सम्पन्न होते ही बालक पितृ गृह छोड़कर गुरु के आश्रम में शिक्षा ग्रहण (वेदों का अध्ययन) करता है यहाँ वह विवाह पूर्व तक रहता है। वेदों का अध्ययन, इन्द्रियों को वश में करना, मन और आत्मा को शुद्ध करने की कला ही ब्रह्मचर्य है।
- ब्राह्मण बालक के लिए 8 वर्ष की आयु से, क्षत्रिय बालक के लिए 11 वर्ष की आयु और वैश्य बालक के लिए 12 वर्ष की आयु से यह आश्रम आरंभ होता है।
- ब्रह्मचर्य में तप तथा संयम द्वारा 25 वर्ष की आयु तक विद्यार्जन के पश्चात् बालकों को ब्रह्मचारी कहा जाता था।
- ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार किया जाता है जिसमें गुरु शिष्य को आशीर्वाद प्रदान कर गृहस्थ आश्रम हेतु शुभकामनाएँ प्रदान करता है।
- **गृहस्थ आश्रम(25-50वर्ष)** - ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था जिसकी अवधि 25 वर्ष से लेकर 50 वर्ष के लगभग मानी गयी है। इसका प्रारंभ विवाह संस्कार के साथ होता है। इस आश्रम में व्यक्ति मर्यादा युक्त धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति करता था तथा स्वयं और परिवार के प्रति अपने दायित्वों को पूर्ण करता था।
- प्राचीन ग्रंथों में गृहस्थाश्रम की काफी प्रशंसा की गयी है तथा इसे सभी आश्रमों का स्रोत बताया गया है। इसी आश्रम में रहकर मनुष्य त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ एवं काम का एक साथ उपयोग करते हुए मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनता है।
- **दादा धर्माधिकारी** ने कहा है—“गृहस्थाश्रम का प्रयोजन है, स्त्री और पुरुष का संयुक्त जीवन। विवाह और गृहस्थाश्रम संयम पालन के लिये है। इसलिए वह ब्रह्मचर्यमूलक है।” अर्थ तथा काम की प्राप्ति के अतिरिक्त गृहस्थ आश्रम का एक अन्य मुख्य उद्देश्य सन्तान प्राप्ति है। समाज की निरन्तरता के लिये सन्तानोत्पत्ति अति आवश्यक है।
- **वानप्रस्थ आश्रम(50-75वर्ष)** - गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों को भली-भाँति पूरा कर लेने के उपरान्त मनुष्य वानप्रस्थ में प्रवेश करता था। वह अपने कुल, गृह तथा ग्राम को छोड़कर वन में जाता तथा वहाँ निवास करते हुए अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित करता था। कुछ ग्रन्थों में वानप्रस्थ के लिये 'वैखानस' शब्द का प्रयोग मिलता है।
- सामान्यतया 50 वर्ष की आयु में वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया जाता है तथा 75 वर्ष की आयु तक यह आश्रम चलता है। इसके लिये सर्वोत्तम स्थान वन में कुटिया बनाकर रहना है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण, भौतिक सुखों का त्याग, इस आश्रमवासी की विशेषताएँ हैं। जीवों पर दया, सदाचार का पालन, आत्मनियन्त्रण, शुद्ध व पवित्र जीवन व्यतीत करना ही वानप्रस्थी के कर्तव्य हैं।

- कोई भी वानप्रस्थी अकर्मण्य जीवन व्यतीत नहीं कर सकेगा। वह विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करता था तथा संसारिक सुखों से धीरे-धीरे विरक्त होने का प्रयास करता था। वानप्रस्थी के लिए आवश्यक है कि वह :-
- सदैव जमीन पर सोये
- फलों का सेवन करे
- वेदों का अध्ययन करे
- आत्मचिंतन करे इत्यादि ।
- इस प्रकार इस आश्रम में व्यक्ति नियंत्रित एवं सदाचारी जीवन व्यतीत करते हुए स्वयं को सन्यास आश्रम के लिए योग्य बनाता था।
- सन्यास आश्रम(75वर्ष के बाद)** - यह जीवन का अंतिम आश्रम है जो 75 वर्ष की आयु पूर्ण होने के उपरांत प्रारंभ होता है। मनुष्य के वानप्रस्थ आश्रम को सफलतापूर्वक पार कर लेता और जीवित बच जाता था तो वह अन्तिम आश्रम सन्यास में प्रवेश करता था। कुल्लूक भट्ट तथा विज्ञानेश्वर जैसे टीकाकारों ने व्यवस्था दी है कि मनुष्य गृहस्थ आश्रम से सीधे सन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में सन्यासी के लिये परिव्राजक, यति, भिक्षु आदि का प्रयोग मिलता है।
- एक सन्यासी स्वयं को सामाजिक, संसारिक बंधनों से मुक्त करेगा तथा अपना सामाजिक नाम भी त्याग देगा।
- डॉ. राधाकृष्णन** ने लिखा है- “वे (सन्यासी) विश्व के समस्त वर्गों और समूहों को समदृष्टि से देखते हैं तथा सम्पूर्ण मानवता का कल्याण करना उनका उद्देश्य होता है।
- कपाड़िया** ने कहा है- “वह अपने को जंगल तक सीमित नहीं रखता था, वरन् गाँव-गाँव जाता था और अपने उपदेशों से समाज को प्रेरित करता था।” अतः सम्पूर्ण विश्व ही सन्यासी का घर होता है
- इस प्रकार आश्रम व्यवस्था का विधान प्राचीन हिन्दू शास्त्रविदों ने व्यक्ति तथा समाज दोनों के सर्वांगीण विकास के लिये किया था। व्यक्ति के भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग इन आश्रमों द्वारा प्रशस्त होता था तथा व्यक्ति इस आश्रम व्यवस्था के आधार पर अपने जीवन में आचरण करता था।

◆ आश्रम व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्त्व

- आश्रम-व्यवस्था का संपूर्ण महत्व इस तथ्य पर आधारित है कि यह व्यवस्था व्यक्ति के मानसिक विकास, समाजीकरण तथा पारस्परिक कर्तव्यों को पूरा करने का दृढ़ आधार है। इसी दृष्टिकोण से सभी आश्रमों का अंतिम उद्देश्य विभिन्न पुरुषार्थों को पूरा करना ही रखा गया है। दूसरे शब्दों में, पुरुषार्थों की पूर्ति ही आश्रम-व्यवस्था का सर्वप्रमुख आधार है। इसी आधार पर पी. एच. प्रभू का कथन है कि “आश्रम-व्यवस्था एक नैतिक-मानसिक व्यवस्था है।” एक नैतिक-मानसिक व्यवस्था के रूप में आश्रम-व्यवस्था का महत्व इस प्रकार समझा जाता है :
- (1) जीवन का समुचित विकास-** मनुष्य का संपूर्ण जीवन सदैव एक जैसा नहीं रहता। आयु में परिवर्तन होने के साथ ही व्यक्ति के दृष्टिकोण, अनुभवों, रुचियों और शारीरिक शक्ति में भी अंतर आ जाता है। सामान्य रूप में इन विशेषताओं के आधार पर जीवन को चार भागों में बांटा जा सकता है किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था। किशोरावस्था में बच्चे में अपूर्व शक्ति होती है, लेकिन अनुभव नहीं होते। युवावस्था में शक्ति के साथ उत्साह भी होता है, लेकिन रचनात्मक ज्ञान की कमी होती है। प्रौढ़ता के काल में अनुभव बढ़ जाते हैं, लेकिन शारीरिक शक्ति और उत्साह की कमी हो जाती है। वृद्धावस्था में शरीर बिल्कुल जर्जर हो जाता है, लेकिन ज्ञान का अथाह भण्डार व्यक्ति की रक्षा करता है। आश्रम-व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति को प्रत्येक अवस्था में अपना समुचित विकास करने के अवसर प्रदान किए गए। प्रत्येक आश्रम के कर्तव्य इस तरह निर्धारित किए गए हैं जिससे शारीरिक शक्ति तथा आयु के अनुसार व्यक्ति की क्षमताओं का सबसे अच्छा उपयोग किया जा सके। इस प्रकार जीवन के समुचित विकास के लिए आश्रम-व्यवस्था का महत्व सबसे अधिक है।
 - (2) सामान्य कल्याण की भावना-** भारतीय समाज आश्रम-व्यवस्था कारण व्यक्तिवादिता के दोष से संबंधित कर्तव्यों को पूरा करने के से सदैव दूर रहा है। इस व्यवस्था के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के सामने अपने हितों की अपेक्षा संपूर्ण के कल्याण का महत्व अधिक हो जाता है। इसका कारण यह है कि आश्रम-व्यवस्था के द्वारा समाज के सभी अंगों को एक-दूसरे से इस

प्रकार मिला दिया गया कि सभी व्यक्ति अपनी सफलता के लिए एक-दूसरे को महत्वपूर्ण समझते रहें। इसी गुण से हमारे समाज में सामूहिकता की भावना इतनी प्रभावपूर्ण बनी रही।

- (3) **मानसिक विकास में सहायक**-आश्रम-व्यवस्था ने व्यक्ति का मानसिक विकास करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस व्यवस्था द्वारा जीवन के आरंभ से अंत तक व्यक्ति के विभिन्न धर्मों (कर्तव्यों) को स्पष्ट कर दिया गया। इसकी सहायता से व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार के नए-नए तरीकों का परीक्षण स्वयं नहीं करना पड़ता और इस प्रकार वह अनेक मानसिक संघर्षों से बच जाता था।
- (4) **महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति**- इस व्यवस्था में व्यक्ति को जिन पुरुषार्थों (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को प्राप्त करने पर बल दिया गया, वे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण चार आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि धर्म का तात्पर्य विभिन्न कर्तव्यों को पूरा करने से है। इस व्यवस्था में व्यक्ति को आर्थिक क्रियाएं करने की भी प्रेरणा दी गयी है। व्यक्ति यदि आर्थिक दायित्वों को पूरा न करके केवल धार्मिक क्रियाओं में ही लगा रहे, तब ऐसे व्यक्ति को हमारा समाज कभी अच्छा नहीं समझता, क्योंकि आर्थिक जीवन में सफलता प्राप्त किए बिना विभिन्न कर्तव्यों की पूर्ति करना असंभव है। जीवन के सभी कर्तव्यों को पूर्ण करने से हमें जिस आंतरिक संतुष्टि का अनुभव होता है, वही वास्तविक मोक्ष है तथा इसी को प्राप्त करना जीवन का अंतिम उद्देश्य कहा गया है। इस प्रकार जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने में यह व्यवस्था अत्यधिक महत्वपूर्ण रही है।
- (5) **ज्ञान का संचय तथा प्रसार**-आश्रम-व्यवस्था ने समाज में ज्ञान के संचय को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया है। इस व्यवस्था के अन्दर जीवन के आरंभिक 25 वर्ष केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए सुरक्षित रखे गए। ज्ञान में वृद्धि करने के लिए गुरु की सेवा को सबसे अधिक महत्व दिया गया, जिससे गुरु और शिष्य के संबंधों में मधुरता बनी रहे। गृहस्थ आश्रम में भी ज्ञान-प्राप्ति का काम रुकता नहीं है। इसके बाद वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में भी व्यक्ति का सबसे महत्वपूर्ण कार्य अपने ज्ञान को सभी दूसरे व्यक्तियों और समूहों में फैलाना है। इस प्रकार संपूर्ण समाज में ज्ञान का प्रसार होता है जो किसी समाज की प्रगति का वास्तविक आधार है।

◆ आश्रम व्यवस्था के दोष-

- ब्रह्मचर्य आश्रम के अंतर्गत व्यक्ति को जो संयम, कठोरता, अनुशासन बरतनी आवश्यक है वह व्यवहार में संभव नहीं है।
- गृहस्थ आश्रम के अंतर्गत व्यक्ति को जो कर्तव्य एवं दायित्व सौंपे गए हैं वे इतने अधिक हैं कि उन सभी का पालन करना व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है।
- वर्तमान में प्रत्येक व्यक्ति संन्यास आश्रम को ग्रहण नहीं कर सकता है।
- स्त्रियों की उपेक्षा तथा पुरुष एकाधिकार का समर्थक।
- मनोविज्ञान के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने उच्च पारिवारिक पद को एकाएक त्यागकर वानप्रस्थ में कैसे पदार्पण कर सकता है।

संभावित प्रश्न

अति लघु उत्तरीय प्रश्न (02 अंक)

1. धर्म का अर्थ
2. हिंदू धर्म के कितने स्वरूप हैं?
3. ईसाई धर्म
4. वर्ण-व्यवस्था की चार विशेषताएं लिखिए।
5. वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के एक सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।
6. ब्राह्मण वर्ण के कर्तव्य
7. पितृ ऋण
8. ऋषि ऋण
9. देव-यज्ञ
10. अतिथि यज्ञ
11. जाति की किसी एक परिभाषा का उल्लेख कीजिए।
12. जाति-व्यवस्था से उत्पन्न किन्हीं तीन वर्तमान समस्याओं का उल्लेख कीजिए।
13. आश्रम व्यवस्था के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
14. पंच महायज्ञ।
15. नामकरण संस्कार का क्या महत्व है?

लघु उत्तरीय प्रश्न (07 अंक)

1. धर्म की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. सामान्य धर्म क्या है?
3. इस्लाम धर्म से आप क्या समझते हैं?
4. स्वधर्म से आप क्या समझते हैं?
5. वर्ण-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं?
6. वर्ण-व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्व की विवेचना कीजिए।
7. ऋण कितने प्रकार के होते हैं?
8. यज्ञ के प्रकारों का वर्णन करें ?
9. जन्म पूर्व के संस्कार कौन कौन से हैं।
10. वर्तमान समाज में आश्रम व्यवस्था क्यों उपयोगी नहीं है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (10 अंक)

1. 'हिंदू धर्म एक विश्वास न होकर जीवन की एक विधि है।' व्याख्या कीजिए।
2. वर्ण-व्यवस्था के आधार क्या हैं? हिंदू सामाजिक जीवन में वर्ण-व्यवस्था के महत्व की विवेचना कीजिए।
3. ऋण तथा यज्ञ का समकालीन संदर्भ की व्याख्या कीजिए।
4. संस्कार क्या है? संस्कारों के प्रकार एवं उनके महत्व की व्याख्या कीजिए।
5. आश्रम की परिभाषा तथा विभिन्न आश्रमों का वर्णन सही क्रम में दीजिए।